दार्शनिक पृष्ठभूमि में योग का स्वरूप

दार्शनिक पृष्ठभूमि में योग का स्वरूप

लेखक

डॉ सीमा चौहान
प्रवक्ता, योग विभाग
डी.एस.बी परिस्सर
(नैनीताल)

शुभम विश्वकर्मा
योग प्रशिक्षक,
रुद्राक्ष मल्टीडाइमेंशनल योग स्टूडियो
(नैनीताल)

Indu Book Services Pvt. Ltd.
(Publishers & Distributors)
New Delhi 110002

Contents

भूमिका..... iii

1. श्रोत दर्शन में योग.....1

2. पातंजल दर्शन में योग.....19

3. जैन दर्शन में योग.....41

उपसंहार.....49

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची 51

भूमिका

सत्य के यथार्थ विश्लेषण करने वाली विधा का नाम दर्शन है। जिस प्रकार पहाड़ की सशक्त छाती को चीर एक नाजुक बीज अपना स्थान बना लेता है और उसकी कठोरता में अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का पालन पोषण करता है। उसी प्रकार दर्शन सत्य की कठोरता का शमन कर परम पवित्र सुगम ब्रह्म के सत्-चित-आनन्दः स्वरूप का मिलन कराने वाला है। दर्शन वह दिव्य नेत्र है जो सृष्टि के आदिकारण के रूप में ददित्यमान है।

दर्शन विचार व तर्क पर आधारित है। दर्शन तर्क निष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परमसत्ता के स्वरूप को समझने का प्रयास है और फिर वह उसकी यथार्थता पर आस्था रखने के लिए उत्प्रेरित करता है। भारतीय दर्शन चेतन और परमचेतन अर्थात उच्चस्तरीय सत्ता का अन्वेषक है। मनुष्य की दुखित दिनचर्या एवं संलिप्त भावनाओं से उत्पन भोगवादी विचारधारा की समाप्ति एवं जीवन को ज्योति स्वरूप में विलयित करना दर्शन का लक्ष्य रहा है। दर्शन विचारों की प्रगाढता का नाम है।

प्लेटा ने दर्शन के सम्बन्ध में कहा है-''दार्शनिक सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण सत्ता का दृष्टा है। यदि कहा जाए तो मानव मस्तिष्क की एक बौद्धिक उपलब्धि का नाम दर्शन है। एक दार्शनिक, वैज्ञानिक और कवि की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टिकोण रखता। मानव बुद्धि का जितना भी चिन्तन है, वह सभी दर्शन के अंतर्गत आता है। पाश्चात्य दार्शनिकों के मतानुसार बुद्धि-प्रेम ही दर्शन का आधार है। ग्रीस के महान दार्शनिक सुकरात ने आत्म-ज्ञान को दर्शन का आधार माना है। दर्शन अपने आप में परिपूर्ण है। दर्शन चिन्तन प्रधान एवं विज्ञान कार्य प्रधान है।

दर्शन का प्रत्येक चिन्तन योग से आरम्भ हो अन्ततोगत्वा उसी में विलीन हो जाता है। योग वह परम पद सत अपरिणामी चिर चेतन तत्व है जिसके इर्द गिर्द दर्शन की विचारधारा भ्रमण करती रहती है। दर्शन की अनेकों शाखायें प्रचलित हैं एवं प्रत्येग शाखा अपने-अपने स्तरों से विचारों को अक्षुण्यता में प्लावित होते हैं। किन्तु इस प्लावित मसितष्क विचारण का अन्तिम लक्ष्य मात्र योग ही हैं। भारतीय ही नहीं अपितु पाश्चात्य दर्शन में भी विचारों की परिणति उच्चावस्था से मिलन पर होती है।

पाश्चात्य दर्शन के पुनर्जागरण काल अथवा आधुनिक काल के प्रारम्भिक समय में भी जब लॉक ने अपनी पुस्तक An Essay concerning Human understanding नहीं लिखी तब तक ज्ञान मीमांसा का स्वरूप अध्ययन के एक विशिष्ट शाखा के रूप में स्थापित नहीं हो पाया किन्तु आगे चलकर ज्ञानमीमांसा

दर्शन की पृथक शाखा के रूप में विकसित हो गयी। हीगल ने तो तर्कशास्त्र और परमतत्व की एकरूपता दिखाकर इसे चरम उत्कर्ष पर पहुंचा दिया,

ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से छर्शनशास्त्र को सार्वभौमया सामान्य विज्ञान कह सकते हैं। दर्शन को निम्नांकित ६ भागों में विभाजितत किया गया है।

1. विश्व संबंधी समस्याओं में
   (अ) विश्व, दिक् या देश और काल विचार
   (ब) जीवन की प्रकृति या उसकी उत्पत्ति का विचार
   (स) विकास संबंधी विचार
2. आत्म मीमांसा संबंधी समस्याओं में
   (अ) आत्मा की प्रकृति, आत्मा और मन का स्वरूप
   (ब) मन और शरीर का सम्बन्ध |
   (स) संकल्प स्वातंत्र्य
   (द) आत्मा की अमरता आदि का विचार
3. तत्व मीमांसा संबंधी समस्याओं में
   (अ) तत्व की प्रकृति
   (ब) तत्व की संख्या आदि ।
4. ज्ञान मीमांसा संबंधी समस्याओं में–
   (क) ज्ञान का स्वरूप
   (ख) ज्ञान का साधन
   (ग) ज्ञान का प्रमाण्य और उसका सीमांकन
5. ईश्वर मीमांसा संबंधी समस्याओं में–
   ईश्वर तथा ईश्वर और विश्व के सम्बन्ध तथा सम्बन्धी समस्याओं पर विचार।
6. आदर्श अथवा मूल्य सम्बन्धी समस्याओं में-
   (अ) नैतिक आदर्श-उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा की समीक्षा
   (ब) सौन्दर्य, संबंधी आदर्श सुन्दर-कुरुप आदि की व्याख्या पर विचार।

दर्शन की समस्त शाखाओं में योग की आस्तित्विक परिकल्पना

दर्शन का प्रत्येक पक्ष यौगि विश्लेषण से अभिरंजित है। दर्शन के प्रत्येक शब्द में यौगिक संवेदना तथा परा सत्ता की स्तुत्यिक आधारशिला दुष्य है इसका प्रत्यक्ष उदाहरण इस प्रकार से दिया जा सकता है।

तत्व मीमांसा में विश्व के मुल तत्व, अर्थात आदि कारण (जीव जगत या ईश्वर) का अनुसंधान किया जाता है। सृष्टि प्रसूति कारण, चेतना की आदि अवस्था का विश्लेषण तत्व मीमांसा का गहन तथा अनिवार्य विषय है। तत्व संबंधी विवेचनाओं को आन्टोलॉजी नाम से भी जाना जाता है। इस अंग्रेजी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक सी. वूल्फ ने किया था।

ये दो शब्दों से मिलकर बना है। सत्ता तथा मीमांसा दोनों का संगठित विष्लेषण किया जाए तो अर्थ होगा- सत्ता मीमांसा । सत्ता का तात्पर्य यहां किसी राजनीतिक सत्ता या सामयिक गठित पार्टी से नहीं, अपितु हम सब को जीवन दने वाली पराशक्ति है। इस परा शक्ति की तत्वमीमांसा में निम्नलिखित पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी स्वीकृति प्रदान की है। जैसे-प्लेटो, अस्टिाटिल, डेकार्ट, स्निनोजा, लाइबनीज, वाण्ट, हीगल, ब्रेडले, अलेक्जेण्डर तथा हाइटहेड में किया है। इस समस्त पाश्चात्य दार्शनिक श्रृंखला ने उस सत्ता को अलग-अलग नामों से सम्बोधित किया है- प्लेटो ने इस फार्म (रूप या आकार), आरिस्टाटिल ने विचारों का अंतिम विचार, डेकार्ट ने ईश्वर, स्पिनोजा ने द्रव्य तथा हीगल, ब्रेडले आदि प्रत्ययवादियों ने परमतत्व कहा है। भारतीय दार्शनिकों ने भी उस परमसत्ता को ब्रह्म, आत्मा, ईश्वर, पुरुष-प्रकृति नाम से सम्बोधित किया है।

तत्व मीमांसा को एक वैज्ञानिक विधि बताते हुए अलेक्जेण्डर और हाइटहेड ने स्पष्ट किया है-तत्व मीमांसा एक वैज्ञानिक प्रयास है। इन्होंने कहा है- विज्ञान का सम्बन्ध किसी एक भाग से होता है किन्तु इन तत्व मीमांसकों के अनुसार दर्शन का सम्बन्ध हमारी समस्त अनुभूतियों की समष्टि से है।

(S. Alexander-space, Time and Deity, vol-1 p-14,N.White head:Process and Real-ityp-17)

ह्वाइटहेड तत्वमीमांसा एक विज्ञान कहा है, जिसके विषय वे सामान्य प्रत्ययों की अनुभूतियों के आधार में पाये जाते हैं। (Process and Reality p-17)

ब्रह्मण्ड, ब्रह्म, ईश्वर तथा आत्मा आदि तत्व मीमांसात्मक सत्ताएं हैं, जिनके आधार पर तत्व मीमांसक को आत्मपूर्णता प्राप्त होती है और आत्मपूर्णता प्राप्ति मानव की महति मनोवैज्ञानिक प्रेरणा है। तत्व मीमांसा यौगिक मनोविज्ञान की अलंकारिता से सम्बन्धित है।

1. **ज्ञान मीमांसा-** यह भी साधारणताया दो शब्दों के संयोगिक अर्थ से अभिरजित है। इसमें प्रथम शब्द- Epistem-knowledge अर्थात ज्ञान तथा द्वितीय Logs-theary है। दोनों का यदि संगठनात्मक आर्थिक विश्लेषण किया जाए तो अर्थ होता है ज्ञान मीमांसा या ज्ञान शास्त्र । इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जे. एफ. फेरियर ने किया था। दर्शन और ज्ञान मीमांसा का सम्बन्ध बीज और वृक्ष के समान है। जिनको कभी भ अलग नहीं किया जा सकता है। ज्ञान मीमांसा खोज का उद्देश्य परमतत्व के ज्ञान की यथार्थ प्रणाली या विधि जानने की प्रक्रिया है, जिसे अनेक दार्शनिकों ने मोक्ष माना है।

दर्शन के इस ज्ञानमीमांसा में चाहे ज्ञान किसी भी रूप में प्रतिपादित क्यों न किया हो, या उसके साधारण सोपान में विभिन्नता या बहुमत ही क्यों न हो। लेकिन फिर भी इस बात से कदापि इन्कार नहीं किया जा

सकता है कि इसका परम लक्ष्य मात्र एक ही है और वह है परम सत्ता की जानकार का जो ज्ञन मीमांसकों ने मोक्ष रूप में वर्णित किया है।

मोक्ष योग की परिणति हे जो ज्ञान बिन अबोध है। ज्ञान मीमांसा मुख्य सोपान हैं। वैज्ञानिक शरीर के gence को बता सकता है। मानवीय Cromsomes का वर्णन कर सकता है किन्तु भ्रूण की उच्चस्तीय चेतना का बोध उसे बिन ज्ञान असंभव है। योग में ज्ञान को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है तथा वर्णित किया गया है- ज्ञान से अनपढ़ को सुगढ़ बनाया जा सकता है। ज्ञान जीवन का बोध तथा संसार की वास्तविकता का बोध कराती है। योग की कोई विधा, फिर वह चाहे पातंजलि का अष्टांग योग हो या फिर जैनियों का साधना मार्ग या बौद्धों की साधनाएं हो और चाहे गीता के उपदेशज्ञ सब का मूल बिन्दु ज्ञान ही है। सभी ज्ञान से आरम्भ होते हैं। और परमज्ञान की ओर गमित होते हैं। आरम्भिग ज्ञान से उच्चस्तरीय ज्ञान की ओर गमन ही योग का काय कलेवर है। अतः ज्ञान मीमांसा (दर्शन) योग की एक शाख कही जा सकती है।

2. **विश्व विज्ञान-** यह दृश्य जगत को अपने नेत्रों में अधिक स्थान देते हैं। यह दर्शन बाह्य जगत की विवेचना में अधिक जोर देते हैं दर्शन सम्पूर्णता का ज्ञान है। यह एक अत्यधिक आवश्यक अंग है। किसी भी सत्य को जानने के लिए जिस प्रकार बीज के नाम, रूप, गंध का परीक्षण किये बिना उसके अंतर्निहित स्वरूप का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। उसी प्रकार बाडा जगत योग का भी महत्वपूर्ण पहलू है। विश्व की समुचित व्याख्या करने के लिए दो पहलुओं की परिणति अनिवार्य है।

   क. अनुभव जगत के समस्त तत्वों को दृष्टिगत करे उनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया जाए।

   ख. वर्गीकृत पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा स्वारुपीय परिवर्तनों का वर्गीकरण किया जाए। सांख्य दर्शन में दो परमतत्वों की कल्पना की गई है पुरुष और प्रकृति। ये तो हुए आन्तरिक पक्ष, साथ ही यह भी कहा गया है कि इनकी बाह्य स्थिति तथा विकास की परिधि क्या है।

विशेष- याग का तत्व तथा मोक्ष सम्बन्धी प्रमाण मात्र कपोल कल्पित तत्य नहीं हैं। अपित एक अकाट्य सत्य है। मोक्ष एक अनुभवगम्य सत्य है जिसकी शाब्दिक सम्प्रेक्षणा नहीं हो सकती है। हां लेकिन उपादाम कारण जीव के बाह्य पक्ष का विश्लेषण जरूर हो सकता है और हो भी रहा है, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण है विश्वविज्ञान, तत्वमीमांसा तथा भौतिकी और प्राणिविज्ञान। हालांकि समय-समय पर अनेक वैज्ञानिकों ने विश्वोत्पत्ति संबंधी विचारों का प्रतिपादन किया। डार्विन ने कभी सिद्धान्त दिया तो कभी कोई साये लेकिन वाण्ट ने सर्वप्रथम यह घोषण की कि विश्वोत्पत्ति की समस्या बुद्धि के द्वारा सुलझायी नहीं जा सकती।

अतः कहा जा सकता है कि यह एक अनुभवगम्य मार्मिक विषय है जिसे सांसारिक कलुषता नहीं समझ सकती है।

3. ईश्वरमीमांसा जैसा कि नाम से ही दृष्टव्य है कि ईश्वर मीमांसा ईश्वर के पूर्ण ज्ञान की विधा है। ईश्वर मीमांसा का प्रायः दो अर्थों में प्रयोग देखा गया है

क. ईश्वर का बौद्धिक या दार्शनिक विवेचन।

ख. किसी धार्मिक परम्परा के अंतर्गत ईश्वर के स्वरूप तथा जगत के सम्बन्ध में विषय में अध्ययन हैं।

इस दार्शनिक पक्ष में ईश्वर की सत्ता का प्रामाणिक विश्लेषण करने के लिए बौद्धिक चेष्टा की जाती है। ईश्वर का स्वरूप क्या है, आदि। साथ ही प्रश्नों का यथोचित उत्तर देने की ओर प्रयास किया जाता है। ईश्वर मीमांसा तथा तत्वमीमांसा में गहतरा सम्बन्ध है। कुछ दार्शनिकों ने ईश्वर को ही परमसत्ता के रूप में प्रतिपादित किया है। ईश्वर मीमांसा दर्शन की एक महत्वपूर्ण शाखा है।

विशेष- ईश्वर और योग दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। योग तथा ईश्वर दोनों एक दूसरे का पोषण तथा संवर्धन हैं। जिस प्रकार मातृशक्ति बिना भ्रूण शक्ति पूर्ण विकसित नहीं हो सकती, उसी प्रकार योग बिना ईश्वर प्राप्त नहीं हो सकता है। दर्शन के इस पक्ष में योग के लक्ष्य, ईश्वर की परिकल्पना यौगिम स्वरूप को यथार्थता प्रदान करती है।

4. **तर्कमीमांसा -** इसमें न्याय संगत विचारों और नियमों का यथारीति अध्ययन किया जाता है। ग्रीक भाषा में शास्त्र अथवा मीमांसा को लॉजिक कहते हैं।

तर्कशास्त्र में वाणी द्वारा विवेचित विचारों का यथा रीति विचार किया जाता है। हालांकि विचार एक मनोवैज्ञानिक परिधि है जो ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम है। विचारों के द्वारा मनोविज्ञान में जीव व विश्लेषण किया जाता है। विचारों की उपस्थिति व्यक्तित्व के विश्लेषण में सहायक होती हैं।

विशेष- योग एक उच्चस्तरीय मनोविज्ञान है। मनोविज्ञान मूलतः विचारों का परीक्षण कर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करता है और योग भी विचारों की पवित्रता का सम्बन्ध मोक्ष के साथ निहित करते हुए अपने विचारों को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। मनोविज्ञान जिस प्रकार विचारों की अभिव्यक्ति वृत्तियों के रूप में करता। है। उसी प्रकार पातंजलि ने भी इन्हें सांसारिक बंधन का कारण स्वीकार्य किया हैं। कहने का तात्पर्य है कि मनोविज्ञान की परिधि तथा योग का काय कलेवर मनो विचारों पर केन्द्रत है और तर्कशास्त्र में भी इसी का विश्लेषण किया गया है। अतः कहा जा सकता है कि इस दर्शन की परिणति भी योग में ही है।

5. **मूल्य मीमांसा -** मूल्य मीमांसा में मूल्य सम्बन्धी तात्विक ताथा सामान्य प्रश्नों पर विचार किया जाता है और मूल्य तथा मूल्यांगन के सम्बन्ध में एक समग्र दृष्टिकोण उपस्थित किया जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्य मीमांसा के प्रारम्भिक सूत्र प्लेटों ने प्रत्यवाद में विशेषतः निःश्रेयस या ''परम पुरुषार्थ' के प्रत्यय में और अहिरटाटिल के ईश्वर विचारों में मिलते हैं। मुल्य से तात्पर्य विषय की अंतनिर्हित योग्यता से है। कई दार्शनिकों का मत भी है कि ज्ञान विषयक समीक्षा हमें, नैतिक, धार्मिक तथा कलात्मक मूल्यों की ओर प्रेषित करती है। मूल्य मीमांसा की मुख्य दो शाखाएं हैं।

क. नीतिशास्त्र

ख. सौन्दर्य मीमांसा

6. **नीतिशास्त्र-** मानवीय नैतिकता शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, वांछनीय अवांछनीय आदि का निर्धारण इसकी परिधि है। समाज विरोधी कार्यों से समाज उपयोगी कार्यों की ओर गमन नीतिशास्त्र के अंतर्निहित पहलू हैं।

विशेष- योग जीवन को सर्वप्रथम नैतिक मूल्यों से ही परिचित कराता है। पातंजलि के अष्टांग योग का प्रथम अंग यम और नियम सांसारिक नैतिक मूल्यों को परिभाषित करता है। यदि यह कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी कि योग का सम्पूर्ण काय-कलेवर ही नैतिकता से परिपूर्ण है। दर्शन नीतिशास्त्र के इस पहलू को स्वीकारता है। फलतः कहा जा सकता है कि दर्शन का यह अंश भी योगयुक्त है।

7. **सौन्दयमीमांसा -** सौन्दर्यमीमांसा का उद्देश्य सौन्दर्यानुभूति या सुन्दर और कुरूप के भेद को बृद्धिगम्य बनाता है। सृष्टि के चराचर में व्याप्त रूप सौन्दर्य का मूल्यांकर सौन्दर्य मीमांसा को फलश्रुति है। सौन्दर्य के अनुभव में एक विशेष प्रकार का आनन्द रहता है। यह आनन्द साधारण इन्द्रियजन्य सुखों से परे है। इन्द्रियजन्य सुखों में दुःखों का पुट लगा होता है, किन्तु सौन्दर्यानुभूति में ऐसा नहीं होता है। सौन्दर्य के अनुभव में संवेग अवश्य वर्तमान होता है किन्तु इस संवेग में उत्तेजना न होकर स्थिरता और शान्ति विराजमान होती है। अतः सौन्दर्यानुभूति विशुद्ध रूप से आनन्दमयी होती है। डा. देवराज-ये यूरोपीय दर्शन पृष्ठ 313-15 में कहा है कि "सौन्दर्यानुभूति व्यक्तित्व प्रमाण है।"

विशेष- सृष्टि के स्वरूप की सुन्दरता की व्याख्या योग भी करता है। योग तो जड़-चेतन की सुन्दरता की व्याख्या करता है। हालांकि दर्शन और योग में कोई अन्तर नहीं है लेकिन इनका आन्तरिक विश्लेषण विभिन्न रूपों में प्रतिपादित होता है । दर्शन जिन तत्वों को बौद्धिक अर्थ प्रदान करता है वही योग उन्हीं तत्वों को मर्मज्ञता तथा अनुभवगमय प्रमाणों के रूप सौन्दर्य से अलंकृत करता है। अतः सम्पूर्ण दर्शनों का काय-कलेवर योगमय है। इन्हीं यौगिम तत्वों का वर्णन विस्तृत रूप में इस लघु शोध के अन्तर्गत षड्दर्शन का यौगिक मूल्यांगन "दार्शनिक पृष्ठभूमि में योग का स्वरूप" नाम से प्रस्तुत किया गया है।

1

श्रोत दर्शन में योग

श्रोत दर्शन में योग

श्रोत दर्शन के अंतर्गत वेद और उपनिषद आते हैं। श्रोत शब्द की व्युत्पत्ति श्रुति से हुई है। इसमें श्रोत तथा श्रोता दो तथ्य हैं- श्रोत का तात्पर्य है ज्ञान का स्रोत अर्थात ज्ञान का विस्तार करने वाला तथा स्रोता का अर्थ है- सुनने वाला। श्रोत दर्शन की विद्या में ऐसे ही ज्ञान का संकलन किया गया है जा ऋषियों द्वारा कहे तथा शिष्यों द्वारा सुने गये हैं। इस ज्ञान को प्रमाणित ज्ञान की संज्ञा से विभूषित किया गया है, क्योंकि इनके शब्दों की आन्तरिक स्फूरणा योगानूभव गम्य है। वेद तथा उपनिषद भी दर्शन की एक भिन्न शाखा के अंतर्गत आते हैं, किन्तु योग की मार्मिक अभिव्यंजना इनके प्रत्येक शब्द प्रस्फुटित होती है।

1. वेदों में योग, योग परिभाषा - वेदों में अनेक स्थलों पर बड़ी ही मार्मिकता के साथ योग को प्रस्तुत किया गया है। ऋग्वेद में वर्णित है

"यस्मादृते न सिध्यंति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीनां योगमिन्वति।"1 अर्थात- बिना योग सिद्धि के विद्वानों का कोई भी कार्य पूर्ण नहीं होता है।

जब हम योगाभ्यास तथा योग द्वारा विवेक खयाति की चेष्टा करते हैं तो उसमें ईश्वर कृपा निहित रहती है। जैसा कि वर्णित है- "साधा ना योग आ भूवत् स राये स परंध्याम्। गमद् वाजेमिरा स तः"2 2 अर्थात- ईश्वर कृपा से हमेंयोग सिद्ध होता है एवं विवेक ख्याति तथ ऋतम्भरा- प्रज्ञा हमें प्राप्त होती है और उसी ईश्वर को प्राप्त करने के लिए हम योग करते हैं कि वह अणिमा आदि सिद्धियों के साथ हमारी ओर आवें।

वेदों का विश्लेषण करने पर कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं जिनसे प्रकट होता है कि इसमें सिद्धि के लिए ईश को अपनी ओर आकर्षित करने के मंत्र लिपिबद्ध हैं "योगे- योग तवस्तरं वाजे वाजे हवामह। सवाय इन्द्रमूतये।"3 इसका अर्थ है- हम साधक लोग प्रत्येक योग (समाधि) में हर मुसीबत में परम ऐश्वर्यवान् इन्द्र का आवाहन करते हैं।" वेदों में साधक द्वारा आत्मा खोज को लकर की गई प्रार्थना के सारगर्भित उदाहरण मौजूद हैं। अपनी उद्वग्नता तथा उच्चश्रृंखलित मानसिकता को शान्त करने तथा अभय वर प्राप्त करने के लिए भी ऋग्वेद में मन्त्र अवतीर्ण किया गया है

न दक्षिण वि चिकिते न सव्या व प्राचीन मादित्या नीत पश्चा।
पाक्या चिद्वसवो धीर्या चिद्युण्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम् ।।"[4]

यह उद्वेगों से उत्पन्न विक्षोभों से निवृत्ति हेतु की कई प्रार्थना है। जिसमें वह अपनी हृदयिक कलुषता को प्रकट करता हुआ मन की उच्चश्रृंखलित अवस्था से व्याकुल हो ईश से उचित मार्गदर्शन की प्रार्थना करता है। जिससे उसे अभयज्योति का ज्ञान प्राप्त हो सके। ऋग्वैदिक कलेवर का विश्लेषण करनेसे बोध होता है कि सृष्टि के आदि कारण के रूप में ऐसा शक्ति विराजमान है जिसे इसके शब्दों में अभ्यज्योति5, परमषद6, परमव्योम7, आदि नामों से आच्छादित किया गया है।

कर्म के सिद्धान्तों का वर्णन भी वेदों में प्राप्त होता है तथा कर्म फलों का वर्णन बड़ी ही मार्मिकता के साथ वर्णित किया गया है। कर्म फलों को भोगने के लिए पुनर्जन्म की मान्यता वेदों में दृष्टव्य है। शुभ कर्मों से मानवीय अमरता का वर्णन भी वेदों में प्राप्त होता है। कर्मफलों8 से छुटकारा प्राप्त करने प्रार्थना तथा संचित और प्रारब्ध का वर्णन ऋ - 3/38/2 तथा 1/168/20 में की गई है। वेदों में किया तथा प्रक्रियात्मक सिद्धान्तों का वर्णन प्राप्त होता है अर्थात जैसा कर्म होगा फल प्राप्ति भी उसी स्तर की होगी। वेदों में योग को सब कर्मों अर्थात यज्ञादि से पूर्व करने में भी साधन स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद में प्राण को कभी समाप्त न होने वाला इन्द्रिय रक्षक तथा शक्ति का भण्डार स्वीकार किया गया है। इसके संचालन के मार्ग को नाड़ियां नाम प्राप्त है। प्राण को श्रेष्ठ मानकर उसकी उपासना का वर्णन भी वेदों में आया है।

वेदों की पृष्ठभूमि मन शब्द को स्वीकरती है, किन्तु विश्लेषण आत्मा का ही करती है। ब्राह्मणों तथा शतपथ ब्राह्मण में मन को महत्वपूर्ण स्वीकार किया गया है। वेदों में प्रकृति-पूजा को अत्यधिक महत्व दिया गया है तथा प्रकृति की जवनदात्री शक्ति स्वीकार किया गया है। वेदों में यदि वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाएस तो मानव की जैविक आवश्यकताओं की धार्मिकता की मार्मिक अभिव्यंजना प्रस्तुत होती. है। वेदों में मनोविज्ञान और धर्म का बड़ा ही सुन्दर समन्वय हुआ है।

उपनिषदों में योग

समस्त उपनिषदों में योग को प्रधारता देते हुए से किसी न किसी रूप में स्वीकार जरूर किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद में यौगिम क्रियाओं आदि का विवेचन करते हुए प्राणायाम विधि, नाड़ियों, ध्यान, उपर्युक्त स्थान का वर्णन प्राप्त होता है। कठोपनिषद' में वर्णित है- इन्द्रियों की स्थिर धारणा का नाम ही योग माना जाता है। वृहदारण्यकोपनिषद में इन्द्रियों और मन के संयम के द्वारा समाधि अवस्था प्राप्त करके अमरत्व प्राप्ति की बात कही गयी है। कुछ उपनिषद तो हमारे पास ऐसे भी हैं जिनमें सिर्फ योग का ही वर्णन है। इन उपनिषदों की संख्या 21 है और इनका नाम भी योग उपनिषद ही है।

इन उपनिषदों के नामों की गणना इस प्रकार से है-

1. अद्वयत्तारकोपनिषद्
2. अमृतनादोपनिषद
3. अमृतबिन्दूपनिषद
4. मुक्तिकोपनिषद

5. तेजोबिन्दुपनिषद
6. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद
7. दर्शनोपनिषद
8. ध्यानबिन्दूपनिषद
9. नादबिन्दूपनिषद
10. पाशुहपतब्रह्मपनिषद
11. ब्रह्मविद्यापनिषद
12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद
13. महावाक्योपनिषद
14. योगकुण्डल्योपनिषद
15. योगचूडामण्युपनिषद
16. योगतत्वोपनिषद
17. योगशिखोपनिषद
18. वाराहोपनिषद
19. शाण्डिल्योपनिषद
20. हंसोपनिषद

इन समस्त योग उपनिषदों में चित्त, नाड़ी, चक्र, कुण्डलिनी, इन्दियाँ, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, मंत्रयोग, लय-योग, हठ-योग, राज-योग, ब्रह्म-ध्यान योग, प्रणवोपासना, ज्ञान-योग तथा चित्त की चारों अवस्थाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उपनिषदों की शाब्दिक परिधि-मनस, चित्त, विज्ञान, चेतस, चेतना, बुद्धि आदि में वर्णित है। मनस शब्द का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में प्राप्त होता है। उपनिषदों में जगत को प्रपंचस्वरूप स्वीकार किया गया है। साथ ही आत्मा को सत् ।

उपनिषद वेद का ज्ञान है। उपनिषद एक परम उपकारिणी विद्या है। जो ज्ञान वेदों के निचोड़ से लिया गया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें राग, द्वेष, दुःख का कारण जन्म को बताया गया है तथा वर्णित है कि एकत्व की भावना से व्यक्ति के दुःखों को दूर किया जा सकता है। पराभाव से दुःख की उत्पत्ति होती है- अर्थात, अपने पराये के भाव से दुःख उत्पन्न होता है। सर्वम् खलविदम् ब्रह्म अर्थात सृष्टि ब्रह्म की है और ब्रह्म रूप में समाहित तथा आर्थिभूत होती है। अयमात्मा ब्रह्म में ब्रह्म का पुत्र हूँ अर्थात में ही ब्रह्म हूँ कि भावना का उपनिषदों में वर्णन किया गया है। उपनिषदों में शरीर के तीन भेद बतलाये गये हैं-

1. स्थूल शरीर
2. सूक्ष्म शरीर
3. कारण शरीर ।

उपनिषदों में मन को महत्वपूर्ण मानकर उसे काम, संशम, श्रद्धा, धारणा, लज्जा, बुद्धि, भय आदि की अधिष्ठात्री शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।11 उपनिषदों में पंच प्राणों, प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान को जीवन का कारण स्वीकार किया है। कोषों अर्थात अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं। उपनिषदों में कोषों के विषय में कुछ विषेश तथ्यों को वर्णित किया गया है, जो इस प्रकार से हैं

1. **आनन्दमय कोष -** प्रथम आवरण जो चेतन तत्व पर आच्छादित है, उसे चित्त और कारण प्रकृति स्वीकार किया गया है। इसको ही कारण शरीर जिसको योगी अलंकृत करते हैं, कहा जाता है। यह चेतना को सांसारिक विकृतियों पर हटा परमानन्दावस्था में चेतना स्थित करता है।

2. **विज्ञानमय कोष-** आत्मा पर दूसरा आवरण बुद्धि और अहंकार का है। ये अहंकार ईश प्राप्ति में सबसे बड़ी बांधा है। कबीरदास ने बड़ी ही मार्मिकता से वर्णित किया है

"जब मैं था तब हरि नहि, अब हरि है मैं नाहिं ।
सब अंधियारा मेटि गया, जब दीपक देखा माहिं ।।"

अर्थात जब 'मैं' 'अहम्' रूपी अहंकार काया पर था, तब परमात्मा के आलिंगन से हृदय कोसों दूर था लेकिन जब अहंकार हटा तो परमात्म स्वरूप ज्योति के आलिंग से हृदय के प्रत्येग सत्य में ज्योति प्रस्फुटित हो गयी है। ये तो कबीर की वाणी है। उपनिषदों में भी अभिमान को ही इस विज्ञानमय कोष का गुण स्वीकार किया गया है।

3. **मनोमय कोष-** मन, ज्ञानेन्द्रियां और तन्मात्राओं का आवरण जो आत्मा पर चढजाने से मनोमय कोष कहलाता है। संशय रहित आत्मा को संशय युक्त आत्मा शोक, मोह, रहित आत्मा को शोक, मोह युक्त आदि के रूप में दर्शाता है। इसमें इच्छा श्ज्ञक्ति वर्तमान रहती है।

4. **प्राणमय कोष -** यह आत्मा पर पंच कामेन्द्रियों तथा पंच प्राणों का आवरण है। विकार १-वक्तृत्व, दातृत्व, गति, क्षुधा, पिपासा इसी का परिणाम है। यह सूक्ष्म शरी के अंतर्गत आता है। इसमें आत्मा तैजस कहलाती है।

5. **अन्नमय कोष-** यह रज वीर्य से निर्मित स्थूल शरीर है। यही सांसारिक दुःखो वृत्तियों का कीड़ास्थल है। इन पंच कोषों का तैत्तिरियोपनिषद् "12 में विषवर्णन है।

पंच कोषों के सिवाय जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं का वर्णन भी उपनिषदों में संकलित है। प्रश्नोपनिषद् और छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है। सुषुप्ति अवस्था में जीव ब्रह्म का अस्थायी संयोग होता है, किन्तु जागृत अवस्था में आते ही जीव फिर अपनी वासनाओं के अनुसार कार्यों में लग जाता है।" उपनिषदों में मात्र आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है जिसे ब्रह्म कहते हैं। मन को भौतिक मानते हुए शरीर को परिवर्तनशी माना गया है।

गीता में योग

महान विचारक एफ. टी. ब्रक्स ने श्रीमद्भागवतगीता को न केवल भारतीय चिन्तन का बल्कि मानवीय चिन्तन का सार कहा है। उनके शब्दों में गीता जीवन शास्त्र है। इसके स्वरूप को सही ढंग से समझने का मतलब है, मानव जीवन के स्वरूप को सम्यक् ढंग से समझ लेना । सुविख्यात दार्शनिक एवं रहस्यवादी सन्त श्री रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे के शब्दों का उल्लेख करें तो श्रीमद्भगवद्गीता के स्वरूप को जानने के लिए हमें मुख्यतया दो मूल बातों पर विचार करना होगा। पहली बात है- सामान्य परिचयात्मक स्वरूप, दूसरी बात है- गीता के स्वरूप को स्पष्ट करने वाली विशेषताओं पर विचार।

गीता का सामान्य परिचयात्मक स्वरूप- के.वी. अय्यर ने अपने चिन्तन में श्रीमद्भागवद्गीता के परिचयात्मक स्वरूप को जानने के लिए चार महत्वपूर्ण विन्दु जरूरी बताए हैं। 1. श्रीमद्भागवद्गीता की स्थिति 2. इस पवित्र ग्रन्थ के उपदेष्टा, 3. रचयिता, 4. ग्रन्थ का कलेवर।

1. **श्रीमद्भागवद्गीता-** श्रीमद्भागवद्गीता 18 पर्वों वाले महाभारत के भीष्म पर्व में स्थित हैं। डा. राधाकृष्णन के अनुसार गीता के अट्ठारह अध्याय महाभारत के भीष्म पर्व के 23 से 40 तक के अध्याय हैं; जबकि स्वामी स्वरूपानन्द के अनुसार महाभारत के भीष्म पर्व के 25 से 42 अध्याय के अंतर्गत भगवद्गीता महाभारत के भीष्म पर्व का अविच्छिन्न अंग है।
2. **उपदेष्टा -** भगवद्गीता अपने महान उपदेष्टा की चर्चा स्वयं करती है। इस पवित्र ग्रन्थ के अध्याय 18 के श्लोक 74 में धृतराष्ट्र से सारथी संजय स्वयं कहता है

व्यासप्रसादाच्छुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरातकृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।

श्री व्यास जी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योग को अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना। इस तरह अपने युग के महान क्रांतिकारी, युगाचार्य योगेश्वर कृष्ण इस पवित्र ग्रन्थ के उपदेष्टा हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने उनके महिमामय आलौकिक व्यक्तित्व से अभिभूत होकर 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम्' अर्थात श्रीकृष्ण स्वयं ही भगवान हैं, कहा है। उन भगवान् द्वारा गायी जाने के कारण ही यह गीता भगवद्गीता कहलाती है 3.

रचयिता - भगवान् श्रीकृष्ण के इस महान उपदेश को महर्षि व्यास ने अपने महाभारत ग्रन्थ के अंतर्गत श्लोकबद्ध किया है। इस कारण उन्हें इस पवित्र ग्रन्थ का रचयिता कहा जाता है। इस महान ग्रन्थ की रचना करने के ही कारण उनकी प्रशंसा में कहा गया है

नमोस्तुते व्यास विशालबुद्धे फुल्लाविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारत तैलपूर्णः प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ।।

हे! खिले हुए कमलदल के समान नेत्र वाले, विशाल बुद्धि व्यास जी, आपको नमस्कार, जो आपने महाभारत रूप तैल लेकर ज्ञानमय प्रदीप प्रज्वलित कर दिया। 4. ग्रन्थ का कलेवर- डब्ल्यू. आर्थर राइडर का कहना है कि भगवद्गीता के स्वरूप का परिचयात्मक बोध पाने के लिए ग्रन्थ के कलेवर का सामान्य परिचय पाना अनिवार्य है। इस क्रम में दो विचारणीय बिन्दु हैं- 1. श्लोक संख्या 2. अध्यायों की संख्या एवं परिचय।

श्लोक संख्या महाभारत के 43 वें अध्याय के चौथे एवं पांचवें श्लोकों में वैशम्पायन ने भगवद्गीता की प्रशेसा करते हुए कहा है

"षटशतानि सविंशानि श्लोकानां प्राह केशवः । अर्जनः सप्त पंचाशं सप्तषष्ठिं च संजयः ।
धृतराष्ट्रः श्लोकमेंक गीतायाः मानमुच्चयते ।।13

गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा कथित शलोकों की संख्या 620 है। अर्जुन द्वारा कथित श्लोक 57 है। संजय कथित 67 और धृतराष्ट्र कथित श्लोक 9 हैं। इस प्रकार गीता की कुल संख्या 745 होती हैं। परन्तु गीता की वर्तमान संख्या श्लोक केवल 700 है । इसलिए वैशम्पायन के कथन और गीता के वर्तमान श्लोकों की संख्या में मतभेद नजर आता है।

अध्यायों की संख्या एवं परिचय- श्रीमद्भागवद्गीता में अध्यायों की संख्या 18 है। गीता के सुविख्यात विद्वान राजाराम शास्त्री ने इस 18 की संख्या का बड़ा गूढ़ विवेचन किया है। उसके अनुसार इस पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थ में 18 अध्यायों का होना मात्र संयोग नहीं है। बल्कि यह संख्या ग्रन्थकार के गहरे आध्यात्मिक ज्ञान का परिचारक है। उन्होंने इस 18 की संख्या के निम्न रहस्य बताए हैं।

1. गीता के अठारह अध्याय मानव शरीर14 में कार्य करने वाले 18 तत्वों का संकेत करते हैं। इन अठारह तत्वों के रूप में हमारे जीवन में पांच ज्ञानन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पंच प्राण एवं मन बृद्धि व अहंकार के रूप में तीन तत्व, इस तरह 18 तत्व हमारे जीवन में सक्रिय हैं।
2. न्याय दर्शन 15 के भाष्य में जो दस तरह के शुभ कर्म एवं आठ तरह के अशुभ कर्म गिनाए गए हैं। अध्यायों की वे अठारह संख्या उसी ओर संकेत करती है।
3. गीता के अठारह अध्यायों के रूपों में पुराणों में वर्णित अठारह द्वीपों का भी संकेत छुपा है।

गीता के ये अठारह अध्याय कौन हैं? इसका परिचय स्वयं ही गीता की पुस्तक देती है। गीता के अनुसार इन अध्यायों में नामों का परिचय इस तरह है- 1. अर्जुन विषाद योग: 2. सांख्य योगः, 3. कर्म योगः, 4. ज्ञान योगः, 5. संन्यास योग, 6. ध्यान योग: 7 ज्ञान-विज्ञान योग: 8 अक्षरब्रह्म योग: 9. राजविद्या- राजगुह्य योगः, 10. विभूति योगः, 11. विश्वरूप दर्शन योगः, 12. भक्ति योगः, 13. क्षेत्र क्षेत्रज्ञ विभाग योगः, 14. गुणत्रय विभा योगः, 15. पुरुषोत्तम योगः, 16. दैवासुर सम्पद्विभाग योगः, 17, श्रद्धात्रय विभाग योगः, 18. मोक्ष संन्यास योगः ।

गीता के स्वरूप की विशेषताओं पर विचार- ए. जार्ज जैकब16 का मानना है कि श्रीमद्भागवद्गीता के स्वरूप की सभी विशेषताएं प्रत्येक अध्याय के अंत में दी गई पुष्पिका से स्पष्ट होती है। उदाहरण के लिए प्रथम अध्याय के अंत में दी गई पुष्पिका है- ओऽम तत्सदिति श्रीमद्भागवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादेऽर्जुन विषाद् योगो नाम प्रथमो अध्यायः ।' अध्याय विशेष के नाम केअनुसार यही क्रम अन्य सभी के अध्यायों के अंत में भी है। इस पुष्पिका से भगवद्गीता की निम्न स्वरूपगत विशेषताएं स्पष्ट होती हैं–

1. श्रीमद्भागवद्गीता - सूपनिषत्सु. 2. ब्रह्मविद्यायां, 3. योगशास्त्रे, 4 श्रीकृष्णार्जुन संवाद। इन प्रमुख बिन्दुओं पर विचार करने से श्रीमद्भागवद्गीता के स्वरूप के सभ विशिष्टि बिन्दु उजागर हो जाते हैं।

1. **श्रीमद्भागवद्गीता सूपनिषद् -** स्वामी आत्मानन्द जी17 का कहना है कि उपनिषदों की परम्परा में गीता श्रेष्ठ उपनिषद है। इसमें विश्वगुरु भगवान श्रीकृष्ण ने अपने शिष्य अर्जुन को तत्वापदेश दिया है। शास्त्रकारों ने उपनिषद शब्द की व्युत्पित्ति कुछ इस प्रकार से की है- षदल विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से पहले उप और नि ये दो उपसर्ग और अंत में क्विप प्रत्यय लगाने से उपनिषद शब्द बनता है। इसके अर्थ को बताते हुए शास्त्र वचन हैं- उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मत्मभावोऽनयः इति उपनिषद् । अर्थात जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जो सके, वह उपनिषद कहलाती है। अमरकोष में इसके अर्थ को बताते हुए कहा गया है-धर्मे रहस्युपनिषत्

स्यात् यानि कि उपनिषद् शब्द गूढ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आत्मानन्द जी का कहना है कि उपनिषद शब्द के इन दोनों ही अर्थों की कसौटी पर भगवद्गीता एकदम खरी उतरती है। यही सत्य गीता की महिमा बताने वाले इस शलोक में भी ध्वनित होता है–

सर्वोपनिषदो गावो, दोगध गोपाल नन्दनः । पार्थो तुत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

अर्थात् सारे उपनिषद् गौओं के समान है। उन गौओं का दूध दुहने वाले ग्वाले गोपानन्दन कृष्ण हैं। अर्जुन वत्स हैं और शृद्ध बुद्धि वाले उस दुग्ध का पान करने वाले हैं। वह दूध ही गीता अमृत हैं। इस तरह भगवद्गीता ने केवल श्रेष्ठ उपनिषद् है, बल्कि सभी उपनिषदों का सारामृत है।

2. **ब्रह्मविद्यायां-** श्रीमद्भगवद्गीता में जिस विद्या का प्रतिपादन हुआ है वह ब्रह्मविद्या है। ए. जार्ज जैकब के अनुसार उपनिषदों की परम्परा में गीता में ब्रह्मविद्या अपने सभी अंग उपांगों के साथ निरूपित है। इसमें बह्मविचार, आत्मविचार एवं दृष्टिविचार पर बड़े ही विस्तार से चर्चा की गयी है। इतना ही नहीं ब्रह्मद्या के जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सत्य और तत्व जो भी हो सकते हैं, उनका इसमें बड़ा ही सौन्दर्यपूर्ण वर्णन एवं निरूपण है।

3. **योगशास्त्रे-** गीता में न केवल ब्रह्मविद्या है बल्कि उसकी प्राप्ति उपाय के रूप में योगशासत्र का सविधि वर्णन है। इसमें "समत्वं योग उच्यते" कहकर जहां योग के सैद्धान्तिक स्वरूप को बताया गया है, वहीं योगः कर्मसु कौशलम् कहकर उसकी व्यावहारिक विधि भी निर्देशित की गयी है। योगशास्त्र के रूप में गीता की महत्ता बताते हुए जैकब का कहना है कि गीता का प्रत्येक अध्याय में योग प्रक्रिया की अनूठी विधि है। अपने आप में योग का विशिष्ट प्रकार है। इसमें ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि विधियों के अलावा कई गोपनीय योग विधियों का भी सांकेतिक किन्तु व्यावहारिक विवरण बड़ी ही आसानी से जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रकट हो जाता है।

4. **श्रीकृष्णार्जुन संवादे-** गीता का प्रकटीकरण भगवान् श्रीकृष्ण एवं श्री अर्जुन के संवाद के रूप में हुआ है। इस सम्बन्ध में गीता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने वाले विलीबाल्ड किरफेल्ड का कहना है कि सामान्य जीवन क्रम में संवाद बड़ी दुर्लभ स्थिति है। साधारण तौर पर हम जिसे संवाद कहते हैं, वह विवाद का रूप होता है। और उसकी परिणति विषाद होती है। पर गीता अदभुत है। इसका प्रारम्भ जरूर विवाद से होता है, परन्तु संवाद यानि कि सम्यक् वाद गहरा होते जाने के कारण इसकी चरम परिणति ।

नष्टो मोहः स्मृर्ति लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करीष्ये वचनं तव ।।

अर्थात्- 'हे अच्युत'! टापकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशय रहित होकर स्थित हूँ। अतः आपकी आज्ञा का पालन करूंगा। के रूप में होती है। मनुष्य को विषाद और द्वन्द की स्थिति में उबारकर गतसंदेह एवं स्थितप्रज्ञ बना देना ही गीता के स्वरूप की विशेषता है।

निष्कर्ष- गीता के स्वरूप की इस व्याख्या में गीता का ब्राह्य अथवा परिचयात्मक स्वरूप एवं आंतरिक अथवा स्वरूप की गूढ विशेषताएं दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। डा. राधाकृष्णन के भावों को व्यक्त करें तो ये

कमश्ज्ञः गीता के सामयिक एवं शाश्वत् प्रवाह को अपनी अभिव्यक्ति देते हैं। इनसे ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक भावों के संकेत प्रकट होते हैं। इन संकेतों से हर युग का मनुष्य अपने लिए सन्मार्ग खोज सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता का दार्शनिक पक्ष

अमेरिकन दार्शनिक कवि राल्फ वाल्डो इमर्सन के अनुसार श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं ईश्वर द्वारा सृजित दार्शनिक संगीत है। प्रो. नन्दकिशोर देवराज ने कहा है कि भगवद्गीता भारतीय दर्शन की ऐसी सर्वश्रेष्ठ अद्वितीय रचना है, जिसमें समस्त भारतीय दर्शन का सार समाया हुआ है। प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा के शब्दों में गीता में केवल धार्मिक विचार ही नहीं बल्कि दार्शनिक विचार भी भरे है। ईश्वर और आत्मा के सम्बन्ध में विविध सिद्धान्त जगत की सृष्टि के सम्बंध में विविध सिद्धान्त तथा तत्वों के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। गीता में तत्व-विचार नतिक नियम ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र निहित है। गीता समस्त भारतीय दर्शन का निचोड़ प्रतीत होती है। इसकी दार्शनिक महिमा और महत्व से प्रभावित होकर ही पाश्चात्य विद्वान विलियम वान हम्बोल्ट ने गीता को किसी ज्ञात भाषा में उपस्थित गीतों की संभवतः सबसे अधिक सुन्दर और एकमात्र दार्शनिक गीत कहा है। महान दार्शनिक के.सी भट्टाचार्य के अनुसार गीता का एकमात्र दार्शनिक महत्व इसी से झलकता है कि भारत भूमि के प्रायः सभी महान् दार्शनिक आचार्यों ने अपने दार्शनिक मत की प्रतिष्ठा गीता का भाष्य लिखकर ही की है। इस क्रम में अद्वैतवादी आचार्य शंकर हो या फिर आचार्य मध्य, आचर्य बल्लभ, आचार्य रामानुज अथवा आचार्य निम्बार्क हों सभी ने गीता में ही अपने दार्शनिक सिद्धान्त की आधारभूमि तलाश की है।

प्रायः सर्वस्वीकृत गीता के इस दार्शनिक महत्व को निम्न बिन्दुओं में समझा जा सकता है-1.दार्शनिक क्रान्ति का काव्य, 2 विविध विचारधाराओं का अद्भुत समन्वय, 3. सर्वकालिक शाश्वत दर्शन, 4. आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित दर्शन।

1. **दार्शनिक क्रान्ति का काव्य-** योगीराज श्री अरविन्द ने गीता के दार्शनिक महत्व को दर्शाते हुए इसे दार्शनिक क्रान्ति का काव्य कहा है। उनके अनुसार कृष्ण का युग विचारों के विकठ द्वन का युग था। महाभारत युद्ध के प्रारम्भिक समय में दोनों सेनाओं के बीच खड़ा हुआ अर्जुन ही हनीं आम आदमी भी दिग्भ्रमित था। 'कार्पण्यदोषोपहत स्वभावतः । पृच्छामि त्वां धर्म समूढचेता।' अर्थात-अज्ञात जनित कायरता के दोष से मेरा स्वभाव ढक गया है। और धर्म के विषय में मेरा चित्त मोहित हो गया है। यह स्थिति अकेले अर्जुन की ही नहीं, उस युग के सारे विचारशीलों की थी। मैं तुमसे पूछता हूँ-पृच्छामि त्वां? विकलता से भरा यह प्रश्न उस युग के विचारशील मानव मन का था। श्री अरविन्द के अनुसार यह एक ऐसा प्रश्न था जिसका समाधान केवल युग की दार्शनिक कांति में ही निहित था। इस अपूर्व कांति से पहले तक परम्परागत विचारों से कसे जकड़े भीष्म-द्रोण आदि लोकोत्तर पुरुष भी द्वन्द्व की दशा में जीते थे। भरी कौरव सभा में महाराने द्रापदी अपमानित होती रही और वे मूकदर्शक बने रहे। महागुरु कृष्ण ने इन परम्परागत विचारों

पर अपने प्रखर दार्शनिक विवेक से कुठाराघात किया। भगवद्गीता के रूप में एक अभूतपूर्व दार्शनिक क्रांति को जन्म दिया। वैदिक विचारधारा के इतिहास में पहली बार अपने समय के महानतम दार्शनिक श्रीकृष्ण ने वेदों का पूर्ण सम्मान करते हुए यह कहने का जुझारु साहस किया कि 'त्रैगुण्यविष्यावेदः नैस्त्रैगुण्यो भावाऽर्जुनः। गीता में श्रीकृष्ण के ऐसे एक नहीं अनेक साहसी वक्तत्य हैं जो यह सिद्ध करते हैं. कि श्रीकृष्ण द्वारा सम्पन्न की गयी दार्शनिक क्रांति का काव्य है और यह दार्शनिक कांति इससे दार्शनिक महत्व का महत्वपूर्ण आधारबिन्दु है।

2. **विविध दार्शनिक विचारधाराओं का अद्भुत समन्वय-** प्रो० नन्दकिशोर देवराज के अनुसार भारतीय दार्शनिक साहित्य में गीता के अतिरिक्त महत्व का कारण उसी समन्वय दृष्टि है। विश्वगुरु गीतानायक श्रीकृष्ण ने अपनी दार्शनिक क्रांति में किसी मत या वाद का निषेध करने की बजाय सभी मतों एवं वादों के बीच अद्भुत समन्वय स्थापित कर दिया। चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार गीता गायन के समय मुख्यतया पांच मत प्रचलित थे–

   1. सांख्य मत 2. योग मत, 3. वेदान्त मत 4. पांचरात्र मत 5. पाशुपत मत। योगेश्वर कृष्ण ने अपने गीता गायन में इन सभी मतों को अद्भुत समन्वयात्मक प्रतिष्ठा दी।

   इस समन्वय दृष्टि का दार्शनिक एवं ऐतिहासिक महत्व बहुत गहरा है। उपनिषद् युग के बाद की शताब्दियों पर नजर डालनेसे जान पड़ता है, मानो उस समय के भारत में तरह-तरह के वादों एवं सिद्धान्तों की बाढ़ सी आ गयी थी। श्वेताम्बर और 'मैत्री' जैसे बाद के उपनिषदों एवं महाभारत में तरह-तरह के मतवादों का उल्लेख है जैसे कापलिक दर्शन, बृहस्पति दर्शन, कालवाद, स्वीभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद आदि। अकेले पांचरात्र सम्प्रदाय की 'अहिर्बुन्ध्य संहिता में बत्तीस तंत्रों का जिक है। लगभग यही स्थिति उन दिनों अन्य मतों के बारे में भी थी।

   आस्तिक विचारकों में आपसी मतभेद सदा ही नास्तिक विचार और चिन्तन को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे में नास्तिक प्रायः यह सवाल उठाते हैं कि यदि सत्य एक है और व धर्मग्रन्थों में उपलब्ध हे तो विभिन्न आस्तिक विचारकों और व्याख्याओं में मतभेद क्यों होता है? भगवद्गीता का दार्शनिक स्वरूप प्रस्तुत करके भगवान श्रीकृष्ण ने यह कोशिश की कि भिन्न-भिन्न मतों और मार्गों के बीच एक सशक्त समन्वय हो। यही कारण है कि- भगवद्गीता का विशेष दार्शनिक महत्व विभिन्न मोक्ष्ज्ञ मार्गों के बीच समन्वय स्थापना में है। उसका तत्वदर्शन निर्गण-सगुण ब्रह्म, सांख्य के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद और बाद में उपनिषदों के ईश्वरवाद के बीच श्रेष्ठ समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है।

3. **.सर्वकालिक शाश्वत दर्शन-**स्वामी अपूर्वानन्द के अनुसारगीता के दार्शनिक महत्व का प्रमुख बिन्दु उसके दर्शन का सर्वकालिक एवं शाश्वत होना है। गीता का दार्शनिक चिन्तन किसी युग विशेष के लिए नहीं थ, इसकी प्रासंगिकता आज भी उतनी ही है जितनी कि पहले कभी थी। डा. रामनाथ शर्मा का कहना हैं। कि- आधुनिक युग विज्ञान का युग है। अतः कुछ लोगों को यह

शंका हो सकती है कि क्या आधुनिक युग में भी गीता के दर्शन की उपयोगिता है? इस सवाल के जवाब में यही कहना उचित है कि गीता दर्शन की यथार्थ आवश्यकता तो आधुनिक युग में ही है। यह कहना तनिक सा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आज के मानव की लगभग सभी समस्याएं गीता के दार्शनिक सिद्धान्तों का अनुसरण करने से सरल हो जाएंगी। डा. राधाकृष्णन का कहना है कि गीता का दार्शनिक आधार मानव सवभाव के मौलिक तत्वों पर है और काल के साथ-साथ मानव का स्वभाव परिवर्तित नहीं होता है। अतः हर युग में मानव के लिए गीता के दार्शनिक तत्व सदा ही उपदेय बने रहेंगे। यही कारण है कि स्वामी विवेकानन्द एवं श्री अरविन्द जैसे संत हों अथवा फिर महात्मा गांधी एवं लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रसेवक या फिर आइन्स्टीन एवं वारनर हाइजेनबर्ग जैसे महान् वैज्ञानिक हो, गीता का दार्शनिक चिन्तन सभी के लिए प्रेरणा स्रोत रहा है।

4. **आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित दर्शन-** जर्मन दार्शनिक श्रृंगल के अनुसार गीता के दार्शनिक महत्व का महत्वपूर्ण आधार उसका आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित होना है। श्रृंगल के अनुसार पश्चिम की दार्शनिक परम्परा प्रायः बौद्धिक एवं वैचारिक दायरे तक सिमटी है। लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्परा का आधार उसकी आध्यात्मिक जीवन पति है। भगवद्गीता का दार्शनिक चिन्तन इस आध्यात्मिक जीवन प०ति की समग्रता- सम्पूर्णता का द्योतक है। श्रृंगल का कहना है कि श्रीकृष्ण पूर्णपुरुष थे। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि भी उनके इस स्वरूप के अनुरूप ही पूर्ण थी। श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धियों का सार निष्कर्ष ही गीता का दार्शनिक चिन्तन है, जो अनूठी विशेषता है।

गीता का आध्यात्मिक महत्व - महान विदुषी एनीबेसेन्ट के अनुसार गीता का दार्शनिक महत्व जितना अधिक है, उसका आध्यात्मिक महत्व उससे कहीं अधिक व्यापक है। गीता सच्चे अर्थों में सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्र हे। इसमें अध्यात्म के स्वरूप एवं सिद्धान्त की नहीं इसकी तकनीकों, प्रक्रियाओं एवं प्रयोगों से पूरे विस्तार से चर्चा की गयी है। यतिराज स्वामी भास्करानन्द के शब्दों में सफल एवं उपलब्धिपूर्ण आध्यात्मिक जीवन कैसे जिया जाए इसका ब्यौरेवार विधान जितनी सुगमता एवं सम्पूर्णता से गीता में है, उतना और कहीं नहीं है।

गीता के आध्यात्मिक महत्व प्रकट करने वाले कुछ विशेष बिन्दु निम्न हैं- 1. आध्यात्मिक आचरण का स्पष्ट निर्देश, 2. कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का अपूर्व समन्वय,3. प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय 4. विश्वबंधुत्व का संदेश।

1. **आध्यात्मिक आचरण का स्पष्ट निर्देश-** सुविख्यात दार्शनिक याकूब मसीह के अनुसार आध्यात्मिक आचरण का स्पष्ट निर्देश- गीता के आध्यात्मिक महत्व को बताने वाला प्रमुख बिन्दु है। अध्यात्म की सैद्धान्तिक रचना प्रायः सरलता से पढ़ने को मिल जाती है। पर आध्यात्मिक जीवन में कुछ पाने के लिए सिद्धान्त नहीं कुशल प्रयोगों की आवश्यकता है।

भगवद्गीता अध्यात्म साधकों के जीवन की इस मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करती है। यह विशेषता गीताशास्त्र में प्रायः हर कहीं झलक जाती है।

प्रो. हिरयन्ना के अनुसार गीता के 1 यक्ताहारविहारस्य, 2. विविक्तदेशसेवित्व 3. विविक्तसेवी लघ्वाशी, 4 काम संकल्पवर्जितः आदि अनेक निर्देश यह बताते हैं कि आध्यात्मिक साधक अपेन साधनामय जीवन कैसे कहां और किस तरह व्यतीत करें।

2. **कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का अपूर्व समन्वय** – साधक प्रवर तैलंग स्वामी कहा करते थे कि भगवद्गीता आध्यात्मिक मार्गों के समन्वय का शास्त्र है। इस बात को ठीक से न समझ पाने के कारण गीता की प्रायः एकांगी व्याख्या की जाती है। कोई कर्म को प्रधानता देता है तो कोई भक्ति को तो कोई ज्ञान को प्रो. रानाडे के अनुसार कुछ सत्य और ही है। किया, भावना एवं चिन्तन मानव की मौलिक शक्तियां हैं। इनका सम्पूर्ण परिष्कार एवं विकास ईश्वरीय चेतना की ओर साथ-साथ उन्मुख होने में है। इनमें से किसी एक को भी त्याग देने से मानवीय प्रगति एकांगी ही होगी। इसलिए कर्म, भक्ति एवं ज्ञान का साथ-साथ उपदेश देती है। विवेकपूर्ण प्रभु अर्पित कर्म में गीता का आध्यात्मिक महत्व निहित है। यही वह उपाय है कि मानव जीवन में किया, भावना एवं चिन्तन का परिष्कार एवं विकास हो सकता है।

3. **प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का समन्वय** – यह गीता के आध्यात्मिक महत्व को प्रकट करने वाला विशेष आधार है। आज की परिस्थिति गीता के उपदेश के समय से भिन्न है। उस समय अर्जुन निवृत्ति की ओर उन्मुख था। आज का मनुष्य कुछ ज्यादा ही प्रवृत्शिील है, फिर भी वह अर्जुन की ही तरह एकांगी है। अतःसन्तुलन बनाए रखने के लिए गीता की उतनी ही जरूरत है। गीता में प्रवृत्ति से निवृति नहीं, बल्कि प्रवृत्ति में निवृत्ति का उपदेश दिया गया है। इसका मतलब है कि कर्म से जान छुड़ाकर भागो नहीं, बल्कि निष्काम भाव से कर्म करा। कर्म का नहीं कामना का त्याग करों। इसी में समाज ओर व्यक्ति दोनों का आध्यात्मिक कल्याण है। प्रो. हिरयन्ना के शब्दों में हमारा युग आत्म दमन का नहीं बल्कि आत्म गौरव का युग है। लोग सन्यासी बनने के लिए अपना कर्तव्य छोड़ने वाले नहीं हैं, जैसा कि अर्जुन करना चाहता था। खतरा दूसरी ओर से है। अपने अधिकारों का दावा और उपयोग करने की उत्सुकता में हम अपने कर्तव्यों की अवहेलना करना चाहते हैं। ऐसी दशा में गीता का यह आध्यात्मिक उपदेश प्रवृत्ति में निवृत्ति अर्थात् कामना छोड़कर कर्तव्य करो, ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है। प्रकारान्तर से गीता का आध्यात्मिक महत्व आज पहले से भी कहीं अधिक बढ़ गया है।

4. **विश्वबन्धुत्व का संदेश-** प्रो. उमेश मिश्र के अनुसार आज के युग में जबकि विश्व शांति के समस्त उपय बालू की भीत पर खड़े हैं गीता का विश्व बंधुत्व का उपदेश संसार का मार्गदर्शन कर सकता है। गीता का परम साधन लोकसंग्रह है। उसमें मानव ही नहीं, बल्कि समस्त भूत प्राणियों के हित की कामना है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां एवं सर्वभूतहितेरतः आदि गीता गीता वचन

विश्व बंधुत्व के आध्यात्मिक भाव को ही व्यक्त करते हैं यही नहीं गीता में- 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वम व मयि पश्चतिद' कहकर सबमें भगवान् को देखने का महत्वपूर्ण आध्यात्मिक उपदेश्ज्ञ दिया गया है। आज के युग में गीता के इन वचनों का आध्यात्मिक महत्व पिछले युगों की तुलना में सर्वाधिक है।

निष्कर्ष- गीता चिन्तन के दार्शनिक पहलू हो या आध्यात्मिक दानो का ही महत्व सर्वजनीन, सार्वभौम, सार्वदेशिक है। गीता के महान् व्याख्याता स्वामी अखण्डानन्द जी महाराज गीता को सर्वदर्शनों का सार कहते हुए इसे आध्यात्मिक जीवन का अनुपमेय अन्थ स्वीकार करते हैं। गीता का महत्व दार्शनिक हो या फिर आध्यात्मिक यह कुछ पंक्तियों या पृष्ठों का विषय नहीं है। बल्कि इसके लिए महाग्रन्थों के विशालकाय कलेवर भी कम पड़ सकते हैं। संक्षेप में राष्ट्रपिजा महात्मा गांधी के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अनुभवों का उल्लेख करते हुए यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि विश्व भर के समस्त दार्शनिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ लुप्त हो जाएं ओर केवल भगवद्गीता बची रह जाए तो वह अकेली ही विश्व भर के मनुष्यों का दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मार्गदर्शन करने लिए पर्याप्त होगी।'

श्रीमद्भगवद्गीता का मानवीय चिन्तन एवं जीवन का प्रभाव- पाश्चात्य जगत के सुविख्यात संत एवं चिन्तन हेनरी डेविड थोरो के अनुसार गीता का गायन अवश्य भारत में हुआ है। पर इसका अमिट प्रभाव समूचे विश्व के मानवीय चिन्तन एवं जीवन पर है। थौरो की अनुभूति यही है कि गीता के गायन से लेकर अब तक समूचे विश्व में बसने वाली मानव जाति इससे लाभान्वित होती रही है। और आगे भी यही क्रम चलता रहेगा। मानवीय चिन्तन एवं जीवन पर गीता के विश्वव्यापी प्रभाव को दर्शाते हुए डा. रामदुलार सिंह ने भगवद्गीता रेफरेन्स गाइड नाम की एक पुस्तक लिखी है। इस पुस्तक का प्रकाशन 'बिबिलोग्राफिकल सोसाइटी ऑफ इंडिया कोलकाता ने' किया है। इस पुस्तक में प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी के अतिरिक्त बयालिस विदेशी भाषाओं में की गयी गीता की व्याख्याओं का उल्लेख है। इस पुस्तक को देखने से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुए सहस्राधिक गीता विषयक ग्रन्थों का सुजन मानवीय चिन्तन एवं जीवन पर उसके विश्वव्यापी प्रभाव का परिचायक है।

इस प्रभाव का ब्योरेवार अध्ययन करने के लिएहमें मुख्यतया दो बिन्दुओं पर गौर करना होगा **1. भारतीय चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव 2. अन्यान्य देशों के चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव।**

1. **भारतीय चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव -** स्वमी प्रभवानन्द के अनुसार गीता भारतीय चिन्तन का सार निष्कर्ष है। अपने जन्म काल से ही इसके प्रभाव की घनी छाया भारत के चिन्तन एवं जीवन पर रही है। भारत देश के चिन्तन के प्रायः सभी आयाम गीता के दार्शनिक सतयों से प्रेरित एवं प्रभावित रहे हैं। यही स्थिति भारत देश में पहले वाले जीवन की है। यह भी किसी न किसी तरह से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से गीता माता की गोद में पला बढ़ा है। गीता के प्रभाव के इस व्यापक दायरे को कुछ पंक्तियों में लिख पाना संभव नहीं हैं। फिर भी प्रस्तुतीकरण की सुविधा की दृष्टि से इसे निम्न बिन्दुओं में प्रस्तुत किया जा सकता है

2. पाराणिक चिन्तन चेतना पर गीता का प्रभाव पण्डित गिरधर शर्मा के अनुसार पौराणिक चिन्तन में समस्त भारतीय जीवन चेतना प्रतिम्बित होती है। पुराण ने केवल वैदिक चिन्तन के संवाह रहे हैं, बल्कि ये भारतीय जीवन के प्रेरण स्रोत भी रहे हैं। आचार्य बलदव उपाध्याय के अनुसार इस पौराणिक साहित्य में अनेक स्थलों पर गीता सार या गीता महात्म्य के नाम से अध्याय है। ये अध्याय एक प्रकार से संक्षेप या व्याख्यान है।?

   अग्निपुराण के 381 वे अध्याय का नाम गीतासार है। इसमें 58 श्लोकों में गीता का सारांश दिया गया है। जो ज्यादातर गीता की ही शब्दावली में हैं। इसी प्रकार गरुड़ पुराण के प्रथम भाग के अध्याय 229 में गीतासार 30 श्लोकों में दिया गया है। विशेषज्ञों के अनुसार यह बहुत ही महत्वपूर्ण गीतासार है। वाराहपुराण में 23 श्लोकों में गीता है। इसमें गीता ज्ञान की उपयोगिता लोक पालन में बतायी गयी है। पद्म पुराण में अध्याय 209 से लेकर 221 अध्याय तक यानि कि 13 अध्यायों में गीता के महात्म्य का वर्णन है। गीता का यही प्रभाव वायु पुराण और स्कन्दपुराण में झलकता है संक्षेप में पुराणों में गीता का प्रभाव इतना व्यापक होने से ही गीता की लोकप्रियता भारत देश में अतिव्यापक हो गयी।

3. **संस्कृत कवियों की काव्य चेतना पर गीता का प्रभाव-** पश्चिमी विचारक केनेय वाकर के अनुसार गीता का भारतीय चिन्तन एवं जीवन पर प्रभाव इतना सघन रहा है कि संस्कृत के अनेक महाकवि गीता से प्रेरित एवं प्रभावित हुए। संस्कृत के विशेषज्ञ विद्वान तेलंग के अनुसार महाकवि कालीदास ने रघुवंश (10/31) में विष्णु की स्तुति के विषय में जो 'अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किंचन विद्यते' श्लोक लिखा है, उस पर गीता के 'नानवाप्तम् वाप्तव्यं' श्लोक का प्रभाव झलकता है। इसी प्रकार बाणभट्ट की कादम्बरी के महाभरतभिवानन्तगीताकणनान्दिततरं इस एक श्लेष प्रधान वाक्य में गीता का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसके कई स्थल गीता चिन्तन से प्रभावित भी हैं। महाकवि कालीदास से भी पुराने कवि मास के कर्णभार नाटक में बारहवां श्लोक 'हतोऽपिलभते स्वर्ग जित्वा तु लभते वशः' स्पष्टतया गीता के 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' (2/37) से प्रेरित व प्रभावित है। इन महाकवियों के अलावा अन्य संस्कृत कवियों का चिन्तन भी गीता से प्रभावित रहा है, इसके अनेक प्रमाण विभिन्न समय के संस्कृत काव्य में देखे जा सकते हैं।

4. **विभिन्न दार्शनिक आचार्यों पर गीता का प्रभाव** – स्वामी प्रभवानन्द के अनुसार भारतवर्ष का शायद ही कोई दार्शनिक आचार्य अथवा दर्शन प्रेमी रहा हो, जो गीता के चिन्तन से प्रभावित न रहा हो। आचार्य शंकर से लेकर अन्यान्य दार्शनिक आचार्यों की पूरी परम्परा एवं श्रृंखला गीता से इस कदर प्रभावित रही है कि उन्होंने अपने दार्शनिक मतवाद की प्रतिष्ठा के लिए गीता की ही सहारा लिया है। गीता से प्रभावित दार्शनिक आचार्यों में आचार्य शंकर, आचार्य रामानुज, आचार्य मध्व, आचार्य निम्बार्क, आचार्य बल्लभ, आचार्य श्रीधर, आचार्य मधुसूदन, आचार्य नीलकण्ठ, आचार्य अभिनवगुप्ता आदि मुख्य हैं।

5. भारत देश के अन्यान्य महापुरुषों के चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव – प्रख्यात स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी एवं चिन्तक लाला हरदयाल के अनुसार भारत भूमि के प्रायः सारे महापुरुष गीता माता के चिन्तन का दुगधपान करके बड़े हुए हैं। यहां पर कुछ महापुरुषों के जीवन पर गीता का प्रभाव दर्शाने से सच्चाई अपने आप ही उजागर हो जाती है।

महात्मा गांधी गीता के बाने में कहते हैं- 'गीता मेरे लिए पूर्ण पर्याप्त है। गीता के चिन्तन मेरे लिए माता के दूध समान है। महर्षि अरविन्द का कथन है- गीता मेरे लिए नीति शास्त्र या आचार शास्त्र का ग्रन्थ नहीं अपितु आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है। विनोबा के शब्द हैं- 'मैं प्रायः गीता के ही वातावरण में रहता हूँ। गीता मेरा प्राण तत्व है। स्वामी विवेकानन्द 'इसे वेदान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रमाणभूत ग्रन्थ बताते हुए अपने ऊपर इसके प्रभावों को स्वीकार करते हैं।' लोकमान्य तिलक के अनुसार गीता सनातन वैदिक-धर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। कवि गुरु रविन्द्रनाथ टैगोर ने 'गीता को भारतीय चिन्तन का सारभूत अंश बताते हुए अपने ऊपर इसके प्रभावों को स्वीकारा है। महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला ने अपनी कवित्वपूर्ण वाणी में कहा है

"गीता-गीत सिंहनाद
मर्मवाणी जीवन संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान कर्म भक्ति योग का।"

इतना ही नही निराल जी के अनुसार गीता चिन्तन से ही उनके अपने जीवन में चिन्तनशीलता की प्रभा फैलाई। अन्य अनेकों असंख्य महापुरुष और भी हैं, जिन्हें गीता से चिन्तनशीलता एवं प्राण चेतना प्राप्त हुई है।

विश्व के अन्य देशों के चिन्तन एवं जीवन पर गीता के प्रभाव - डा. मुहम्मद हाफिज सैयद ने कल्याण के गीतांक में लिखे हुए अपने एक लेख में लिखा है, भगवद्गीता पर बाहर वालों का तथा अहिन्दुओं का उतना ही अधिकार है, जितना किसी भारतीय अथवा हिन्दू कहलाने वाले का। डॉ. सैयद के इन विचारों में गीता के विश्वव्यापी प्रभाव की झलक है। गीता का भारत के बाहर कब प्रचार हुआ? यह तो इतिहास विशेषज्ञों की शोध का विषय है। परन्तु इतनी सच्चाई तो स्पष्ट है कि विश्व के अन्यान्य देश भगवद्गीता के चिन्तन एवं जीवन पद्धति से शताब्दियों पूर्व से ही प्रभावित रहे हैं। इस सत्य की झांकी निम्न बिन्दुओं में की जा सकती है।

1. **यूनान के दार्शनिक चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव -** मुगल शहजादा दाराशिकोह ने फैजी द्वारा किए गए भगवद्गीता के फारसी अनुवाद 'सरे अकबर' की भूमिका में लिखा यूनान का प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (अरस्तू) जो अरब तथा यूनान के दार्शनिकों का शिरोमणि है, विभिन्न विद्याओं का मर्मज्ञ होने के बावजूद ज्ञान की दृष्टि से तन्मीम हिन्दी के तुच्छ शिष्यों में से एक था। यह तन्मीम हिन्दी महर्षि व्यास और भगवद्गीता के महान भक्तों में से एक थे। उसी ने यूनान और उसके विचारशीलों को भगवद्गीता पढ़ाई। मैक्समूलर ने भी इस सच्चाई को बताते हुए कहा है- "Nothing struck the greeks so much as the philosophical spirit of

Bhagavad Gita and Upanishads which seemed to prevede that mysterious country' अर्थात –भारत आए यूनानियों को जितना अधिक भगवद्गीता एवं उपनिषदों के भाव ने प्रभावित किया है उतना किसी और ने नहीं।

उदाहरण के लिए क्सेनोफेन द्वारा दी गयी ईश्वर के अन्यर्यामित्व की धारणा गीता के 'ईश्वरा सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (18/61) से प्रभावित हैं। परमेनिद का 'सत असत् सम्बन्धी विचार' गीता के नसदो विद्यते भावो व विद्यते सतः से लिया गया है। इसी तरह पी. स्टेनले आदि कतिपय विचारकों ने प्लेटो की विज्ञान सम्बन्धी मान्यता एवं अरस्तु के ईश्वर सम्बन्धी विचारों पर भगवद्गीता का प्रभाव स्वीकार किया है।

2. **अन्य पश्चिमी दार्शनिकों के चिन्तन एवं जीवन पर प्रभाव -** भाई परमानन्द के शब्दों में भगवद्गीता का फारसी अनुवाद जब यूरोप में पहुंचा तब यूरोप के दार्शनिक इसको पढकर चकित हो गए। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री श्रृंगल तो भगवद्गीता को पढ़कर हैरत में आ गया और इसकी प्रशंसा करने लगा। इसी तरह शोपरहॉवर और मेजिनी के विचारों पर भगवदगीता का गहरा असर हुआ। एमर्सन का गुरु थोरो तो भगवद्गीता का भक्त बन गया। उसने एक स्थान पर भगवद्गीता के प्रति बड़ी ही भक्तिपूर्वक अपने विचार इस तरह प्रकट किए, 'मैं प्रतिदिन भगवद्गीता के पवित्र जल में स्नान करजा हूँ। वर्तमान काल की कृतियों से यह कहीं बढ़-चढ़कर है जिस काल में यह लिखी गयी, वह सचमुच ही निराल समय रहा होगा। पश्चिम के किस दार्शनिक को भगवद्गीता ने किस तरह से प्रभावित किया, इसका संक्षिप्त विवरण कुछ इस तरह है

मैक्समूलर के अनुसार स्पिनोजा द्वारा बताया गया सब्सटेन्शिया 'स्वतन्त्रतत्व'

भगवद्गीता का ब्रह्म ही है। लाइबिनित्ज का यह कहना है कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नहीं है। भगवद्गीता के उस प्रसंग से मेल खाता है, जिसमें भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को अपने परमेश्वर का दर्शन कराने के लिए दिव्य दृष्टि दी थीं इस तरह शेलिंग जिसे डार्क ग्राउण्ड कहना है, वह भगवद्गीता की माया के सिवाय कुछ अन्य भी नहीं। पश्चिमी दर्शन में ऐसे अनेकों तत्व और प्रसंग हैं, जो उस पर भगवद्गीता के स्पष्ट प्रभाव को दर्शाते हैं।

3. **मुस्लिम देशों पर भगवद्गीता का प्रभाव-** भाई परमानन्द के अनुसार मुसलमानों में बुखारा का राजकुमार अलबेरूनी ऐसा पला व्यक्ति था, जिसका ध्यान भगवद्गीता पर गया। उसे महमूद गजनवी ने कैद कर रखा था। हिरासत में रखने के लिए वह उसे हिन्दुस्तान पर आक्रमण के समय भी अपने साथ लिए रहता। अलबेरूनी इसी युद्धकाल में बड़ी कठिनाईयों के साथ संस्कृत का अध्ययन किया। इसके बाद उसने अपनी पुस्तक भारत की रचना की। इस पुस्तक में उसने भगवतद्गीता के कई श्लोकों को उद्धत करते हुए इसे आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी उच्चकोटि की पवित्र पुस्तक बताया है। अतिहासकारों का मानना है कि अलबेरूनी के प्रभाव से ही मुस्लिम देश भगवद्गीता से परिचित एवं प्रभावित हुए।

4. **विभिन्न विदेशी महापुरुषों के चिन्तन एवं जीवन पर गीता का प्रभाव -** विश्व के विभिन्न देशों का चिन्तन ही नहीं वहां रहने वाले महापुरुषों एवं उनके सम्पक में आए हुए लोगों को भगवद्गीता नए सिरे से गढ़ा है, इनमें से कुछ विशिष्ट जन्म निम्न हैं

   1. **अलबेरूनी-** अलबेरूनी भगवद्गीता से इस कदर प्रभावित था कि उसने इसे पवित्र ग्रन्थ बताते हुए इसे अपने जीवन का अंतिम आश्रय बताया।

   2. **अल-घजाली-** सूफी संत अलघजाली ने भगवद्गीता से भक्ति के तत्व को ग्रहण किया। उसने कहा- खुदा को प्यार करना, उसे अपना सब कुछ समर्पित करने हुए जीवन जीना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है। घजाली ने बताया कि गीता का संदेश उनके लिए है जो खुदा को प्यार करना जानते हैं और ऐसा करना चाहते हैं जो बुद्धिवादी, गीता उनकी पहुंच एवं पकड़ से बाहर है।

   3. **चार्ल्स विल्किन्स-** इनके विषय में यूरोप में संस्कृत पांडित्य के जन्मदाता एच. टी. कोलबुक ने कहा कि पाइथागोरस से लेकर उस समय तक कोई ऐसा विदेशी विद्वान नहीं हुआ, जिसको हिन्दुओं के विषय में विल्किन्स से ज्यादा ज्ञान रहा हो। 1775 ई. में विल्किन्स ने भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद किया। जो सीधे संस्कृत पाठ से यूरोपीय भाषा में अनूदित प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। विल्किन्स के संस्मरणों के अनुसार उसे भगवद्गीता इतनी भाई कि वह पूरे दिन भर में इसके कुछ अंशों का पाठ किए बिना रह नहीं सकता। उसके अनुसार इस पवित्र ग्रन्थ ने उसकी समूची जीवन शैली बदल दी |

   4. **श्रृंगल**— जर्मन दार्शनिक श्रृंगल का पूरा ऑगस्ट विल्हेम वान श्रृंगल था, उसेन भगवद्गीता के मूलपाठ को लैटिन अनुवाद का साथ सम्पादित किया। साथ ही उसके अज्ञातकर्ताओं के प्रति श्रद्धांजलि प्रदान करते हुए कहा कि मैं उनके चरण चिन्हों को सदैव पूजता रहूंगा। उसकी गीता के प्रति प्रीति इतनी प्रगाढ़ थी कि वह प्रातः उठकर सबसे पहले गीता पाठ करता था। गीता का कथन-येनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतों नायं हन्ति न हन्यते उसके जीवन का मूल मन्त्र बन गया था।

   5. **थोरो-**प्रो. सी.एम.ई. जोड के अनुसार थोरो का उल्लेख किए बिना भगवतगीता के भक्तों की गणना अधूरी रहेगी। उस पर गीता का प्रभाव अति प्रगाढ़ था। थोरों के शब्दों में गीता के साथ तुलना करने पर जगत् का समस्त आधुनिक ज्ञान मुझे तुच्छ लगता है।'

निष्कर्ष- फ्रेंच विचारक एवं लेखक रोमां रोलां के शब्दों में भारत ने समूची मनुष्य जाति को, विश्व वसुधा को अपने ज्ञान के कोष से अगणित एवं अनन्त रत्न दिए हैं। परन्तु इन सभी में भगवद्गीता बेशकीमती और अतुलनीय है। मानवीय चिन्तन एवं जीवन पर इसका विश्वव्यापी प्रभाव तब तक बना रहेगा, जब तक कि मनुष्य जीवन में चिन्तन की सामर्थ्य रहेगी। रोमां रोलां के अनुसार भगवद्गीता का चिन्तन ही विश्व मानव की समस्याओं का एकमात्र सार्थक समाधान है। महान विदुषी एवं गीता की सौन्दर्यपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने

वाली एनीबेसेण्ट के शब्दों में 'श्रीमद्भागवद्गीता का यह संगीत केवल अपनी जन्म भूमि में ही नहीं बल्कि सभी भूमियों पर गया हूँ और उसने प्रत्येक देश के भावुक हृदयों में वही प्रतिध्वनि जगाई है। इस प्रकार गीता के प्रत्येक शब्द की परिकल्पना में मन की गहनता एवं जीवन की उच्चता का प्रत्यक्ष स्पर्श विद्यमान है। जो योग की परम परिणति है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. ऋग्वेद-1/18/7
2. सामवेद - 301/2/10/3
3. अथर्ववेद-19/24/7
4. ऋग्वेद-2 / 27/11
5. ऋग्वेद-2/27/11
6. वहीं- 1/22/21
7. वही- 1/43/2
8. वही- 6/2/11
9. कठोपनिषद- तृतीय वल्ली-213/11
10. डा. वीणा मल्होत्रा (उपनिषदों में निर्वाचन, पृ. 18-48 तक)
11. वृहदारण्यक उपनिषद् - 15/3
12. तैलिरियोपरिनषद-2 / 1,2,3,4,5,6
13. महाभारत - 13/14, 5
14. शरीर क्रिया विज्ञान (प्रो. पूर्णचन्द जैन एवं डा. प्रमोद मालवीय) पृ० - 91/95
15. पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय (भारतीय दर्शन पृ0-582,85
16. डा. राधाकृष्णन (भारतीय दर्शन) पृ० 426
17. स्वामी आत्मानन्द (गीता तत्व-चिन्तन) –भूमिका

1

पातंजल दर्शन में योग

पतजंल दर्शन में योग

परिचय - महर्षि पंतजलि एक उच्चस्तरीय मनोवैज्ञानिक कहे जाते हैं परिणामत् महर्षि पातंजलि के योग सूत्र का सम्पूर्ण कलेवर मनोविज्ञान से सजाया संवारा है। महर्षि पतंजलि ने आध्यात्म और विज्ञान का सम्पूर्ण विश्लेषण करते हुए दोनों को एक दूसरे का पूरक रूप में स्वीकार किया है। महर्षि ने जहां एक ओर आध्यात्मिक उच्चता के दर्शन किए, वहीं दूसरी ओर विज्ञान की कर्नाटी पर उसको सजा-संवार कर उसके वैज्ञानिक पहलू का विश्लेषण किया है।

आधुनिक जल गगनचुम्बी विज्ञान की उपलब्धियों को महर्षि पातंजलि ने एक चुनौती दी है तथा मात्र तीन वाक्यों- "चित्त वृत्ति निराधः" में ही सम्पूर्ण मानव की बाह्य तथा आन्तरिक शक्तियों, योग्यताओं, व्यक्तित्व आदि का विश्लेषण अकाट्य रूप से किया है। जहां पर पतन्जलि के याग सूत्र का सम्पूर्ण सत्य मानवीय चेतना के विश्लेषण से सुसज्जित है। वही अणु-परमाणु बम के आविष्कारक विज्ञान आज तक मानव के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सका और न ही आज तक कोई स्थिर विश्लेषण ही किया गया है। महर्षि पंतजलि का विश्लेषण एकल न होकर चातुर्दिक रहा है। इन्होंने संसर्ग के प्रथत काल से लेकर चेतना की उच्चावस्था में विलयित स्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। महर्षि पतन्जलि जीवन के सत्व के प्रणेता कह जाते हैं। जीव के स्वच्छन्द विचलन तथा बन्धनों में जन्म का ऐसा विशद विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। साथ ही बन्धनों के काट्य अंगों का विश्लेषण बखूबी किया गया है। चित्त की तीन अवस्थायें चेतन, अचेतन, सुपर चेतन का सामान्यतः अभिभाज्य रूपान्तरण योगसूत्र के पृष्ठों पर वर्णित है। जिस पर आज तक मनोविज्ञान टिका है। यूं कहा जाए तो अतिश्योक्ति नहीं होगी कि मनोविज्ञान का आरम्भ भी पतन्जलि के याग से होता है। और उसकी परिधि विलयित भी इन्हीं के शब्दों पर होती है।

महर्षि पतन्जलि ने मानव को निम्नतम स्तर से उठाकरर उच्चतम अवस्था तक कैसे पहुंचाया जाए, का मार्ग प्रशस्त किया है। इसके हेतु उन्होंने सूत्र रूप में इसका मार्मिक वर्णन करते हुए कहा है

"यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाध्यः अष्टौअंगनि" इसको महर्षि का अष्टांग

योग भी कहा जाता है। इसमें महर्षि ने योग के आठ अंगो का वर्णन करते हुए इन्हें मोक्ष मार्ग के रूप में परिभाषित किया है। एक शब्द में कहा जाए ता- 'चित्त वृत्ति निरोध महर्षि के पातंजल दर्शन का सारतम अंश हैं एवं इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग है अष्टांग योग। इन दोनों का प्रणय मोक्ष का आलिंगन कराती है। जो योग की मूल चेतना है।

महर्षि पातंजलि का असाधारण सत्व की प्राप्ति कराने वाला साधारण अष्टांग योग आगे पृष्ठों में वर्णित है।

पतन्जलि के अनुसार योग- महर्षि पातंजलि एक उच्चस्तरीय मनोवैज्ञानिक, दार्शकि, योगी तथा शोधकर्ता माने जात हैं। महर्षि ने कपोल कल्पित तथ्यों का विश्लेषण न करते हुए सत्य के अलंकरण से आच्छादित श्वेत सत्य का मूल्यांकन किया है। महर्षि पतंजलि के योग में सामान्यतः सब कुछ मनोवैज्ञानिक परिधि पर टिका हुआ है। महर्षि ने एक महान ज्ञानी की भांति जीवन के क्षुद्रतम परिणाम से अक्षुण्यम सत्य का मार्ग प्रशस्त किया है। पतंजलि ने जीव को सर्वगुण सम्पन्न स्वीकार किया है। महर्षि ने योग सूत्र में कहा है- "समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर निश्चिन्त हो जाना ही योग है।" योग सूत्र में निम्नतर परिधि से उच्चता की शिखर यात्रा को योग स्वीकार्य किया गया है। जीवन चक्र से पहले आत्मा स्वच्छन्द आकाश में विचरण करने वाली अविनाशी आत्मा होती है। वह सांसारिक मूल्यों से परे स्वाति नक्षत्र की बूंद के समान गुणयुक्त होती है। जिसमें स्फटिक की भांति हर स्वरूप को ग्रहण करने की पूर्णक्षमता विद्यमान होती है।

स्वाति की बूंद के विषय में वर्णित है-"कदली, सीप, भुजंग मुख, स्वाति एक गुण तीन ।। "

जिस प्रकार स्वच्छन्द आकाश में विचरण करने वाली गुणयुक्त स्वाति की बूंद नीचे आते ही विभिन्न स्वरूपों में परिवर्तित हो जाती है तथा धारक के गुणानुसार बांधित हो उसी के स्वरूप का वरण कर लेती है। उसी प्रकार जीव योनियों का भिन्न-भिन्न रूपों में वरण करता है। सैकड़ों योनियों से गुजरती जीवात्मा योनियों में दुर्लभ मुनुष्य योनि में जन्म लेता है। जिस प्रकार भूमि के हृदयस्थल में पड़ते ही उसके संचित वेग के साथ अंकुर रूप में बाहर निकल पड़ते हैं। उसी प्रकार जीव का गर्भ में आना उसके काल चक्र की आरंभिक अवस्था होती है। जीवन के काल चक्र से लेकर मृत्यु का वरण करने तक जीव इन्हीं बन्धनों जिसमें सांसारिक सुख भोग, वासना, तृष्णा, ईच्छा, आकांक्षा विद्यमान है, में फंसा रहता है। जीव इन बन्धनों के वशीभूत हो अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। तथा सुख के पीछे दौड़ते-दौडते दुःख के भयावह अंधकार से घिर जाता है। तृष्णा तथा वासना की इस गली से जीव को बाहर निकालकर उसकी वास्तविकता का बोध कराते हुए उसे परम परिणति प्रदान करने के रास्ते को महर्षि ने योग कहा है। महर्षि पतंजलि ने जीवन को उद्देश्य पूर्ण बनाने की ओर कदम बढ़ाया है। संस्कारों की कालुण्यता को दग्ध करने एवं नवीन उज्जवल संस्कारों को पल्लवित पुष्पित करने के लिए महर्षि पतंजलि ने विभिन्न यौगिक तथ्य बताये हैं। कहा जाए तो उच्चश्रृंखलित मलीन वृत्तियों का ह्रास ही योग है। महर्षि ने कहा है-"योग चित्तवृत्ति निरोधः"।। चित्त वृत्तियों का निराध ही योग है। चित्त की पंच वृत्यिां मानी गयी हैं।

1. प्रमाण, 2. विपर्यय 3 विकल्प 4 निद्रा 5 स्मृति। ये समस्त वृत्तियां मन को चंचल एवं उच्चश्रृंखलित करते हैं तथा यहीं पंच वृत्तियां अंततः पंच क्लेशों का कारण बनते हैं।

जिस प्रकार समुद्र में उठने वाली लहर उसके स्वरूप को आन्दोलित करती रहती तथा उसकी वास्तविकता, शान्तावस्था को लुप्त कर देती है। उसी प्रकार वृत्तियां मन को आन्दोलित करके जीव की यथार्थता पर मायावरण डाल देती है। इस मायावरण के कारण जीव निरन्तर पतन की गर्त में जाने हेतु परिणामी क्षुद्र कर्मों में लिप्त रहता हैं इस क्षुद्र कार्य का परिणाम निम्नतम मनः स्थिति तथा पतित प्रगति होती है। इस गहनतम गंदगी से निकालन तथा जीवन को नया मोड़ देने के लिए महर्षि पतंजलि ने योग का रास्ता दिखाया है। संवेदनाओं का उच्चस्तरीय विकास और करुणा की मर्मज्ञता का प्रसफुटन योग की परिणति है और यही योग की परिभाषा है। जहां समस्त इच्छायें, आकांछाएं समाप्त हो हृदय में करुणा का स्पन्दन होना आरम्भ हो जाए, वहीं योग की परिधि का आरम्भ है। महर्षि का भी योग का सारांश यही है कि परहित सुखाय की भावना का आगमन और उच्चस्तरीय सत्ता की ओर दृष्टि ही योग है।

'महर्षि पतंजलि के अनुसर अष्टांग योग'

महर्षि पतंजलि ने अपनी योग साधना के बल पर अष्टांग योग साधना का प्रतिपादन किया है। अष्टांग योग की इस वर्णमाल में साधारण विशिष्ट कई प्रकार के सुगन्धित फूलों का संगठन है, जिसके नामों की गठना इस प्रकार से है- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यम रूपी की सुगन्ध दूरगामी प्रभाव डालती है। अर्थात 'परहित सुखाय' में सुख अनुभव करता है और वहीं नियम स्वयं की मलीनता को परिशुद्धि करता है। जिस प्रकार से जल समस्त संसार की मलीनता का इस स्वयं में मलिनता का धोवन कर संसार में सुगन्धि की नयी कोपल, पल्लवित, पुष्पित और विकसित होती है। आसनों से शरीर की बाय शक्तियों का विश्लेषण होता है तथा विकारों की परिशुद्धि द्वारा शारीरिक सौष्ठव प्राप्त होता है। प्राणायाम नस-नाडियों में व्याप्त हमोर मलीन विकारों का शमन करता है तथा Nsrase को सुदृढ एवं मजबूत बनाती है। प्रत्याहार एक ऐसी विधि है जिसमें साधक अथवा किसी को भी सामाजिक लगाव एवं संवेदनाओं के संसार से ऊपर उठना सिखाया जाता है। धारणा परा सत्ता की ओर बढ़ता पहला कदम है। ध्यान इससे आलिंगन को दर्शाता है तथा समाधि जीव का ईश में मिलन का संकेत है। इस प्रकार पतंजलि ने अष्टांग योग को वर्णित किया है। इसका विस्तार पूर्ण कमिक वर्णन इस प्रकार है–

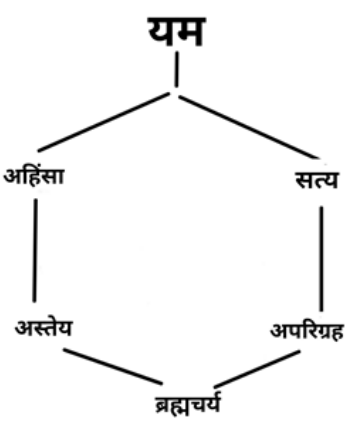

महर्षि पतंजलि ने यमों का वर्णन इस प्रकार किया है।

यम के शाब्दिक अर्थ को विविध ग्रन्थों में इस प्रकार से वर्णित किया गया है-मानसिक परिशुद्धता के लिए यम का महत्वपूर्ण स्थान है। "देहेन्द्रियषु वैराग्यमिति उच्चयते बुधै।।"1 अर्थात शरीर और इन्द्रियों में वैराग्य की अवस्था यम है। कहने का तात्पर्य है कि इन्द्रियों की प्रवृत्ति वृत्तियों से प्रभावित न होना यम है। इसी विषय पर अन्य औपनिषदिक चर्चा इस प्रकार से प्राप्त होती है

"सर्व ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रिय ज्ञानसंयमः
यमोऽयमिति सम्प्राक्तोऽम्यस नीयो मुहुर्मुह ||"2

अर्थात - यह सब ब्रह्म है। इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही यम कहलाता है। इसी का बार-बार अभ्यास करना चाहिए। जीवन की प्रत्येग शब्दावलि में उचित स्वर्णिम मनोभावों का समावेश यम है। जब तक आत्मा की शुद्धि से मन की प्रत्येक परम आच्छादित नहीं हो जाती, तब तक विवेक सिद्धि की प्राप्ति नामुमकिन है। अतः विवेक सिद्धि प्राप्ति करेन हेतु शरीर और मन की शुद्धि अनिवार्य है।3 इस बात का समर्थन भारतीय दर्शन में भी किया गया है। यम का वास्तविक अर्थ है-संयम।4 आचार्य श्रीराम शर्मा ने भी संयमों का वर्णन करते हुए-इन्द्रिय संयम, समय, संयम, अर्थ समयम आदि की बात कही है। साथ गुरुदेव ने व्यवहार संयम की और भी इंगित किया है। योग दर्शन में मानसिक, वाचिक तथा क्रियात्मक नियन्त्रण को यम नो से सम्बन्धित किया गया है।

यम से ही योग साधना का प्रारम्भ होता है। यम की साधना ही प्रथम तली है बिना इसके भेदन के साधना का आलिंगन असम्भव है।5 अतः साधना रूपी विरांगना को जीतने के लिए यम अमाद्य अस्त्र है। यम के पान से जीवन में सात्विकता का आगमन होता है और सत्य अलौकिकता की ओर गमिल होता है। समाधि यदि याग का अंतिम आदर्श पूर्ण रूप है तो माझ के आंचल को पकड़ने का प्रथम कदम है यम । जिस प्रकार ऊंचाई तक पहुंचने के लिए प्रथम सीढ़ी के पश्चात् दूसरी सीढ़ी पर कमवार पैर रख मंजिल को प्राप्त किया जा सकता है। उसी प्रकार मोक्ष रूपी अमरता की अक्षुण्य ऊंचाई की माप यम की प्रथम सीढ़ी से आरम्भ हाती है।6 दर्शनों के पृष्ठों पर भी इसका समर्थन देखने को मिलता है। अन्य पुस्तकों में उपचार की एक पद्धति के रूप में भी यम का वर्णन देखने को मिलता है-"जिस प्रकार शारीरिक व्याधियों में चिकित्सा से पूर्व शारीरिक शोधन पंच कर्मों द्वारा किया जाता है, उसी प्रकार 'चित्तवृत्ति निराध' के प्रयास से पूर्व शारीरिक एवं मानसिक शुद्धि आवश्यक है जिसे यम-नियम द्वारा किया जाता है।"8 महर्षि पतंजलि ने योग सूत्र के पृष्ठों पर इस प्रकार से निम्न नियमों का वर्णन किया है- "अहिंसारत्यास्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहः यमाः ।।" अर्थात-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम है। यम ब्राह्म रक्षा का मूलभूत अंग है। यक जीवन में नैतिक मूल्यों का समावेश करता है। हालांकि महर्षि पतंजलि ने यम को पांच वर्गों में विभाजित किया है लेकिन भागवत पुराण में यमों को 12 भागों में विभाजित किया गया है–

"अहिंसा सत्यमस्तेयमसंगो होर समन्वयः । आस्तिक्यं ब्रह्मचर्य च मौनं स्थौर्य क्षमाऽमयम्।।"[10]

अर्थात- 1अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. असंगता 5 लज्जा 6. अपरिग्रह 7. वेद ईश्वर आत्मा में विश्वास

8.ब्रह्मचर्य 9.मौन 10.स्थिरता 11.क्षमा 12.अभय। वशिष्ठं संहिता में यम के दस अंगों का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है–

"अहिंसा, अत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य क्षमाधृति |
दयाऽर्जन मिताहारः शौच चैव यम दशः ।।"[11]

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3.अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य 5. क्षमा 6. धृति 7.दया 8. सरलता 9. अल्पहार 10. पवित्रता। निम्नलिखित उपनिषदों में भी जैसे- त्रिशिखिबाह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद, दस यमों का प्रतिकारात्मक स्वरूप देखने को मिलता है। उदारहरणार्थ

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य दयार्जवम् । क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।" [12]

'जैन दर्शन' में पांच यमों को पंच महाव्रत के रूप में प्रतिपादित किया गया है। उदाहरणार्थ- 1. अहिंसा 2 यम 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह। महर्षि पतंजलि ने भी पांच यमों को स्वीकार्य किया है। उदाहरणाथ- "तत्राहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।।''13 अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। महर्षि पतंजलि द्वारा दृश्य यमों का क्रमवार वर्णन इस प्रकार से है

1. **अहिंसा-** 'शांण्डिल्योपनिषद"[14] में बतलाया गया है कि मन की गहराई, वाणी की मर्मज्ञता तथा कर्म की क्रियाशीलता द्वारा किसी को कभी भी कष्ट नहीं देना ही अहिंसा है। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपण हिंसा'15 अर्थात "प्रमाद के योग से जीव मात्र के प्राणों को घात करना हिंसा कहलाता है।" साधारण अर्थों में अहिंसा का अर्थ होता है - भूलकर भी किसी को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट न देना। उपनिषद16 की पृष्ठभूमि एवं वेदान्त का मत भी इसी बात का समर्थन किया है कि - "किसी भी रूप में मन वाणी या कर्म से किसी जीव को मारना हिंसा है ओर उसका अभाव अहिंसा है।" जैनावलम्बि भी पूर्णतया इसी वाक्य का समर्थन करते हैं विचारों बड़ी ही उच्चस्तरीय शक्ति होती है। गुरुदेव17 ने लिखा है- "व्यक्ति जैसा सोचता और करता है, उसका झुकाव उसी ओर हो जाता है तथा उसके व्यक्तित्व का निर्माण भी वैसा ही हो जाता है।" विचारों की प्रबलता कतिपय आज किसी से छिपी नहीं। रेकी प्राणिक हीलिंग, तन्त्र मन्त्र से कौर अनभिज्ञ है कि विचारों की शक्ति ही इनकी आधारशिला है। मनोविज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि विचारों की उच्चता व्यक्ति की ऊंचाई पर पहुंचती है और विचारों की निकृष्टता ही उसे कुण्ठा, विषाद, चिन्ता, तनाव की ओर धकेलती हे। कहने का तात्पर्य यह है कि विचारों में बड़ी प्रबल शक्ति हैं अतः भावनात्मक रूप से किसी के प्रति गलत विचार हिंसा का प्रतीकात्मक स्वरूप हो सकती है। फलतः वैचारिक हिंसा भी अपराध की श्रेणी में आती है।

महात्मा गांधी ने भी अहिंसा का पूर्णतः पालन किया जिससे वह अहिंसा के पुजारी कहलाये। किन्तु कायर अहिंसा का पुजारी हो इसका उन्होंने पूर्णतः विरोध किया है। हिंसक का यदि किसी प्रकार से सुधार न हो सके तो उसको समाप्त कर देना हिंसा नहीं है। गीता का समस्त सार भी इसी पर केन्द्रित है। मनुस्मृति में भी कहा गया है

"गुं. वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयम् ।।[18]

अर्थात-गुरु,बालक,वृद्ध व विद्वान ब्राह्मण भी अगर कुबुद्धि आग लगाने वाला, विष देने वाल, वस्त्र उठाने वाला, धन, वित्त, स्त्री की चुराने वाला के रूप में सामने आता है तो उसको बिना सोचे विचारे तुरन्त मृत्यु के घाट उतार देना चाहिए। अहिंसा विशेषतः समय प्रधान होती है। गीता में महाभारत युद्ध अहिंसा ही थी, राम द्वारा रावण वध अहिंसा का ही परिचायक है और कृष्ण द्वारा कंश का बध अहिंसा ही थी, क्योंकि आततायी का नाश अत्यधिक आवश्यक है। आततायी को समाप्त करने के लिए ही श्रेष्ठ आत्माओं की समय-समय पर प्रसूति होती है। गीता के इस श्लोक से बात की पुष्टि होती है

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत |
अभ्यूत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।"[19]

अर्थात-हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की बृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ। अर्थात सगुण यप में लोगों के सम्मुख प्रकअ होता हूँ। अतः महाभारत की जनहानि अहिंसा नहीं है। सम्भवतः श्रीकृष्ण का जन्म इसी हेतु हुआ हो।

व्यास भाष्य में कहा गया है- "तत्रहिंसा सर्वदा सर्वथा सर्वभूतानिामनभिद्रोह ।।"20 अर्थात सर्वदा सभी जगह सभी प्राणियों में द्रोह अभाव ही अहिंसा है। वशिष्ठ21 व्यासके भूतमात्र के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा अनभिद्रोह को मानते हैं। उनके अनुसार वेदान्त कर्म अहिंसा कही जा सकी है। यदि उससे जीव को पीड़ा न पहुंचती हो।

भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक ग्रन्थों विशेषतः उपनिषदों में अहिंसा का विराट स्वरूप झांकते मिलता है। बाग्भट्ट[22] ने कहा है-हिंसा तम का द्योतक है। यह अभिमान और प्रतिरोध को उत्पन्न करने वाला होता है। अतः उसे पापकर्म बताकर त्यागने का निर्देश है और यह त्याग ही अहिंसा है।

मनु के शब्दों में अहिंसा इस प्रकार से प्रतिपादित है "नर्हि वैरण वैराणि प्रशाम्यन्ति कदाचन।।" अर्थात-वैरभावना उखने से वैर भावना कभी शान्त नहीं हो सकती। वैर भावना अशान्ति का मूल है। इसलिए योगाभ्यासी के लिए हिंसा की वृत्ति का परित्याग करना अतिआवश्यक है। योग की परिणति में अहिंसा एक उच्चस्तरीय पद प्रदान करने में पूर्णतया अनिवार्य और सर्वथा समर्थ है।

2. सत्य दर्शनों में सच या सत या सत्य वह है जिसकी सत्ता चिर स्थायी, अपरिणामी, निरपेक्ष, अपरिवर्तनशील एवं अचल है। जिसे वे विभिन्न रूपों में परा सत्ता को स्वीकार करते हैं। वास्तविक स्वरूप में सत्य कभी क्षय नहीं होता उसका सत्य दिग-दिगान्तरों तक बना रहता है। नेत्रेन्द्रिय एवं मन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखा हुआ श्रवण किया हुआ तथा अनुभव किया हुआ, जैसा घटित हो, वैसा ही भाव प्रकट करने के लिए प्रिय एवं हितकर वचन का नाम सत्य है। मन वचन की एकरूपता को ही सत्य कहा जाता है। मनुस्मृति में कहा गया है

"सत्यं ब्रयात्प्रियं ब्रूयान्त ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेय धर्म सनातनः । ।" 23

अर्थात-सत्य बोलें,प्रिय बोलें, अप्रिय सत्य ने बोलें तथा प्रिय असत्य न बोलें। यह सनातन धर्म है। तात्पर्य यह है कि प्रिय बोलें, अच्छा बोलें, लेकिन ऐसा सत्य कदापि न बोलें जिससे दूसरों को मानहानि या हृदयाघात पहुंचे। इसी को इन्हों ने सनातन धर्म स्वीकार्य किया है। सत्य अहिंसा का आधार है। कटु सत्य महाभारत जैसे हिसित युद्ध का कारण बन सकता है। द्रोपदी के मुख से निकला एक सत्य कटु वचन होने के कारण कौरवों-पाण्डवों के मध्य नृशंस हत्या का कारण बन गया था। कटु सत्य इसलिए वचनीय नहीं है, क्योंकि इससे दो पक्षों के मध्य द्वेष, कलह एवं संघर्ष का वातावरण पैदा होता है। इसलिए कहा गया है कि सत्य हो लेकिन समय प्रधान एवं प्रिय। चुगली करना व अनावश्यक बोलना भी सत्य के विरुद्ध होता है। हर स्थिति में यह ध्यान रखना अति आवश्यक हो जाता है कि सत्य कभी भी सर्वहित विरोध न हो। महाभारत में वर्णित मत है

"सत्यंस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् । सद्भूतहितमत्रून्त मेतत्सत्यं मतं मम् ।।"[24]

अर्थात सत्य भाषण उत्तम है। हितकारक वचन बोलना सत्य से भी उत्तम है। क्योंकि हमारे मत में जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त हित होता है वही सत्य है। सबसे बड़ा सत्य निरपराधियों की हत्या रोकना है। सत्य वही है जो परहित सुखाय हो। सत्य को भी तीन रूपों में विभाजित किया गया है। 1. बौद्धिक सत्य 2. वाचिक सत्य 3. कार्यिक सत्य ।

1. **बौद्धिक सत्य**– किसी भी तथ्य का यथार्थता पूर्ण विश्लेषण एवं मानसिक घर्षण बौद्धिक सत्य कहते हैं। बौद्धिक सत्य के द्वारा ही वाणी या व्यवहार में सत्य को अपनाया जाता है।
2. **वाचिक सत्य-** जो बात जिस रूप में देखी सुनी या अनुभव की गई उसे उसी रूप में वर्णित करना वाचिक सत्य है।
3. **कायिक सत्य-** सत्य को कर्म द्वारा व्यक्त करना या व्यवहार में अपनाना कायिक या शारीरिक सत्य है।

सत्य को विद्वानों ने वाणी का आभूषण बतलाया है। वर्णित है–सत्य की प्रतिष्ठा–जब तक वाणी में रहती है, वाणी का गौरव द्विगुणित हो जाता है। सत्य के अद्भुत विद्युतीय वेग के समक्ष मिथ्या भाषी तिनके के समान बलहीन होता है। वशिष्ठ संहिता में सत्य के बारे में कहा कया है

"सत्यं भूतहितं प्रोक्तं यथा न्यायमिभाषण्म् ।
प्रियं च सत्यमित्युक्तं सत्यमेतद् ब्रतीमिते ।।"

अर्थात-न्नायपूर्ण सत्य का कथन प्राणियों के लिए हिताकारी कहा गया है। जो सत्य प्रिय होता है, वही वास्तविक सत्य है। सत्य को अच्छी प्रकार से पालन करने वाले ही वाणी में बल आ जाता है और उसके वचन कभी असत्य नहीं होते। उसके शाप और आशीर्वाद दोनों ही फलते हैं किन्तु अहिंसात्मक प्रवृत्ति होने के कारण वह प्रायः शाप नहीं देता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है

"सत्येव जयते नानृतं सत्येन पन्या विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।"[25]

अर्थात- सत्य की विजय होती हैं, झूठ की नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग परिपूर्ण है। इसके द्वारा कामना रहित ऋषिगण उस पद को प्राप्त करते हैं। जहां सत्य के श्रेष्ठ भण्डाररूप परमात्मा का निवास है। 'कबीर' ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा है

"सॉच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जके हिरदय साँच है, ताके हिरय आप।।[26]

अर्थात सच के समक्ष कोई तप नहीं है और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं है। जिसके हृदय में सत्य का निवास होता है। हे प्रभु! उसके हृदय में आप की सुगन्धि सदैव विद्यमान रहती है। कहने का तात्पर्य है कि सत्य की अनुपस्थिति जीव की निरर्थकता सिद्ध करती है। शास्त्रों में तो यहां तक उधृत किया गया है कि अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भी असत्य भाषण कदापि नहीं करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है

"अमेध्य वै पुरुषों यदनृतं वदन्ति ।"

अर्थात -असत्य झूठ बोलने वाले अपवित्र होते हैं। जो असत्यवादी हैं वह अपवित्र है। वह कभी भी पवित्र नहीं बन सकता। इसी का समर्थन अन्यत्र भी मिलता है-"एतद्वाचश्चिन्द्रं यदनृतम्"27 असत्य भाषण करने वाले का तेज नष्ट हो जाता है। ज्ञान की क्षति होती है। असत्यवादी के अंदर स्मरण शक्ति और मानसिक बल, वाणी में शक्ति, चेहरे का तेज, व्यक्तित्व आदि नहीं रह जाते हैं। व्यक्तित्व पूर्णरूपेण तेजहीन हो जाता है। अतः किसी भी स्थिति में असत्य भाषण कदापि उचित नहीं है। सर्वथा प्रचलित शब्द या शासनाधिपति वाक्य है- "सत्यमेव जयते नानृतम्।" अर्थात-चाहे भले ही देर से हो लेकिन सत्य की ही विजय होती है। शास्त्रों में एक वाक्य और वर्णित है

"सत्यं तपों दया दानं चतुष्पाद्धर्म ईरितः।
सर्वेरपि सदा सेव्यो जन्मतो मरणावधि।।"

अर्थात-सत्य, तप, दया और दान ये चार धर्म के पैर हैं। अत: इनका जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सेवन करते रहने की प्रतिज्ञा लेनी चाहिए। अहिंसा के सामान प्रत्येक परिस्थिति में केवल सत्य बोलने का व्रत केवल वे ही महान पुरुष ले सकते हैं जिनकी समदृष्टि है एवं तृष्णाओं से मुक्त हैं। ग्रहस्थी एवं शासन संभालते हुए इस व्रत का पालन सम्भवतः असम्भव सा है। परन्तु यथासम्भव सत्य को पालन करने का संकल्प तो सभी ले सकते हैं।

3. **अस्तेय-** मनुष्य मात्र के अधिकारों से उन्हें वंचित करने वाले चोर होते हैं। अस्तेय का तात्पर्य होता है चोरी न करना। यदि इसमें से अ शब्द को हटा दिया जाएतो स्तेय मात्र रहा जाता है जिसका प्रतीकात्मक स्वरूप होता है हिंसा उच्च जाति वालों का निम्न जातिगत लोगों पर उनके धार्मिक, सामाजिक अधिकारों में हस्तक्षेप करना भी चोरी ही है। अतः स्वयं की स्वाथपरता के कारण परहित का आघात न पहुंचाना अस्तेय की परिणति है। महर्षि व्यास कहते हैं

"स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणा परतः स्वीकरणं।
तत्प्रतिषेधः पुनरस्प्रहा रूप मस्तेयमिति ।।"[28]

अर्थात -दूसरे के द्रव्यों को स्वीकार करना स्तेय कहलाता है। और इस स्तेय का निषेध ही अस्तेय हैं। "याज्ञवल्क्य संहिता" में कहा गया है

"मनसा वाचा कर्मणा पर द्रव्येषु निस्पृहः। अस्तेयकिति सम्प्राक्तं; षिभिस्तत्वदर्शिभिः ।।"

अर्थात-मन वचन एवं कर्म से दूसरे के द्रव्य की इच्छा न करना अस्तेय है। दूसरों की किसी भी प्रकार की वस्तु को लेने की इच्छा न रखना उस पर ध्यान नहीं देना, मन में विचारों को भी न लाना एवं दृष्टि न रखना अस्तेय है। जिसका पुरुषार्थ से उपार्जित नहीं किया जा सकता है। उसको लेने के लिए स्वप्न में विचार न करना अस्तेय है। अरतेय के भी तीन प्रकार कहे जा सकते हैं।

1. **बौद्धिक अस्तेय-** किसी दूसरे व्यक्ति की वस्तु को प्राप्त करने का विचार भी मन में न लाना बौद्धिक अस्तेय है।
2. **वाचिक अस्तेय-** किसी अन्य व्यक्ति की वस्तु प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति से आग्रह न करना या दूसरे को बोरी हेतु न उकसाना वाचिक अस्तेय है।
3. **शारीरिक अस्तेय-** किसी दूसरे की वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने शरीर का प्रयोग न करना शारीरिक अस्तेय कहा जाता है। अर्थात अपेन कर्म या चेष्टा द्वारा किसी अन्य व्यक्ति की वस्तु को बलपूर्वक न लेना ही शारीरिक अस्तेय माना जाता है। बेइमानी और अनीति पूर्वक कमाये हुए तथा दूसरों के कहे धन की अभिलाषा न रखते हुए न्याय और नीतिपूर्वक उपार्जित धन में ही संतोष रखते हुए अपना जीवन निर्वाह अस्तेय का मूल है। दर्शनोपनिषद में वर्णित है

"आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहार विवर्जितम्।
यत्तदस्त्रेय मित्युक्त्मात्म विद्धिर्महामुने ।।"[29]

'शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है- **"अस्तेय नाम मनोवाक काय कर्माभिः पर द्रव्येषु नि.प्रहता।।"**

अर्थात शरीर, मन और वाणी द्वारा पर द्रव्य की अच्छा न करना अस्तेय कहलाता है।

आचार्य वागभट्ट के अनुसार-अस्तेय दशविध, पापकर्म के अन्तर्मन आता है। जिसे शरीर, मन व वाणी से त्याग देना चाहिए। यही अरतेय है। योगी को लोभ का राग होना ही चोरी हैं। क्योंकि इन्हीं के कारण दूसरे की वस्तु को मनुष्य अन्यायपूर्वक प्राप्त करता है। अस्तेय के दृढ होने पर समस्त रत्नों की प्राप्ति होने लगती है। उसे किसी प्रकार की कमी नहीं रहती। अतः अस्तेय सुखी जीवन एवं अर्षित वातावरण के लिए अनिवार्य है।

4. **ब्रह्मचर्य-** 'दक्षसंहिता'30 में वर्णित है

"स्मरण कीर्तन केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च कियानिर्वत्तिरेव च ।।
एतन्मैथुनमष्टांग प्रवदन्ति मनोषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाण्टलक्षणम् ।।"

अर्थात काम क्रियाओं व बातों का स्मरण करना, उनके विषय में बात करना, स्त्री

के साथ क्रीडा करना उसके अंगों को देखना उसके साथ गुप्त बातचीत करना,

भोग इच्छा, सम्भो निश्चय तथा सम्भोग कियाए ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। जिनके विपरीत आचरण करना ही ब्रह्मचर्य है। वर्णित है। भोगभवमहारोगा"।"31 भोग महाराग है। शास्त्रों में यौन सम्बन्ध को मात्र सन्तानात्पत्ति हेतु स्वीकार किया गया है।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है वीर्ये वैभः । अर्थात वीर्य ही तेज, आभा और प्रकाश है। जीवन का मर्म वीर्य में ही है। वीर्य का क्षय संचित ऊर्जा का इस और अस्त-व्यस्त जीवन चर्चा को प्रोत्साहित करती है। किसी भी प्रकार से काम वासना को जाग्रत करने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध विषयों से दूर रहना चाहिए। कामोत्तेजक विचारों को भी मन से दूर रखना चाहिए। ब्रह्म पालन किये बिना शरीर, मन इन्द्रियों को बल या उत्साह ऊर्जा मिलना असंभव है। कहा भी गया है–

"ब्रह्मचर्य परं तपः" जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए एवं मानव मात्र प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ब्रह्मचर्य मुख्य सोपान है। योग सूत्र व्यास भाष्य में वर्णित है–

"ब्रह्मचय गुप्तेन्द्रियस्योपस्थस्य संयमः"32 अर्थात गुप्तेन्द्रियों का संयम ही ब्रह्मचर्य है। अतिनिद्रा,अति मैथुन, नियम पूर्वक कार्य न करना। बुराईयों का त्याग आदि का संचम ही ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं

1. **बौद्धिक ब्रह्मचर्य-** कामवसना पर नियन्त्रण करने के लिए इन्द्रियों को वश में रखने के लिए विचारों की शुद्धता परम आवश्यक है। अतः इन्द्रिय सुख का विचार मन में आने न देना बौद्धिक ब्रह्मचर्य है।
2. **वाचिक ब्रह्मचर्य-** इन्द्रिय सुख के विषय में वार्तालाप, अश्लील, अशिष्ट उपहास न करना ही वाचिक ब्रह्मचर्य है।
3. **शारीरिक बह्मचर्य-** गुप्तेन्द्रियों पर नियन्त्रण ही शारीरिक ब्रह्मचर्य है। बौद्धिक व वाचिक ब्रह्मचर्य का अभ्यास होने पर शारीरिक ब्रह्मचर्य का अभ्यास आसानी से हो सकता है।

याज्ञवलक्य संहिता में वर्णित हैं

"कर्मणामनसा वाचा सर्वास्थिास्तु सर्वदा । सर्वत्र मैथुन तयागो ब्रह्मचर्य प्रचक्षते ।।"

योगी को कर्म से अर्थात् शारीरिक चेष्टादि से, मन तथा वाणी से भी सर्वथा मैथुन की अच्छा का पिरत्याग कर देना चाहिए, क्योंकि मन, वाणी कर्म से मैथुन की इच्छा का परित्याग कर देना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य व्रत है। वेदों की परिधि को कुछ इस प्रकार से वर्णित करती है-"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र विरक्षति ।।"33

अर्थात ब्रह्मचर्य के प्रताप से उत्पन्न बल, पराक्रम तथा सामर्थ्य शक्ति से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है और विद्रोही शत्रुओं का मान मर्दन करता है। मनुस्मृति में भी ऐसा ही कुछ अलंकरण मिलता है। आगे वर्णित है- "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाहनत ।।" अर्थात ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही देवों ने मृत्यु पर विजय

प्राप्त कर लिया था। ब्रह्मचर्य व्रत में प्रतिष्ठित भीष्म पितामह, परशुराम तथा पवन पुत्र हनुमान आदि बीरों की शक्ति की अलौकिकता को कौन नहीं जानता। समस्त दर्शन एवं धर्मशास्त्री ब्रह्मचर्य का एक ही मत प्रतिपादित करते हैं। 'शाण्डिल्योपनिषद्'35 में मन, वचन एवं कर्म के सभी प्रकार के मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्य बतलाया है। 'दर्शनोपनिषद्', ब्रह्मविदों ने ब्रह्मचर्य के रूप को मार्गिक व्यापकता दी है। उन्होंने ऋतौभर्या इत्यादि कहकर गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास सभी आश्रमों का ध्यान रखते हुए मन के ब्रह्मभाव के विचरण करने को बह्मचर्य कहा है। यदि इसके सारतम स्वरूप को देखा जाए तो समस्त भौतिक क्लेशों या उपादानों को तिलांजलि देकर ब्रह्ममय हो जाना ही ब्रह्मचर्य है।

5. **अपरिग्रह-** अपरिग्रह का तात्पर्य है अत्यधिक धन संचय न करना। जितना है उतने में ही संतृष्ट करना चाहिए।

कबीरदास ने बड़ी ही मार्मिकता के साथ कहा है-

"साई एता दीजिये, जानें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा न रहूं साधु न भूखा जाए।।"

अर्थात हे स्वामी! जाम मुझे मात्र इतना दीजिए जिसमें कुशलता से मेरे परिवार का भरण पोषण हो सके। जिसमें बस इतना दें कि मैं तृप्त रहूं और कोई मेरे द्वारे से भूखा न जाए। याज्ञवल्क्य स्मृति में वर्णित हैं-

"न्यायागतधनः सत्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत् सत्यवादी च ग्रहस्थोपि हि मुच्यते।।"

अर्थात--न्याय से प्राप्त धन से जीवन को बिताने वाला, तत्वज्ञान निष्ठ, अतिथियों की सेवा करने वाला, श्रद्धाकर्ता और सत्यवादी गृहस्थ भी मोक्ष को प्राप्त करता है। भोग राग को बढ़ाने वाला होता है। अपनी आवश्यकता से अधिक भोग सामग्रियों व भोग विषयों का संग्रह भी पाप है। 'भर्तृहरि जी ने कहा है

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तस्तपों न तृप्तं वयमेव तप्ता।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्ण वयमेव जीर्णाः ।।"

अर्थात- भोगों को हमने नहीं भोगा किन्तु उन्होंने हमें भोग लिया। तप नहीं तपे किन्तु हम ही तप गये, काल नहीं बीता हम ही बीत गये। तृष्णा समाप्त नहीं हुई किन्तु हम ही समाप्त हो गये।

बिना परिश्रम से प्राप्त विषयों का भोग तो पाप है किन्तु परिश्रम से प्राप्त भोग सामग्री भी यदि हमारी आत्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्यों के लिए अत्यधिक है तो वह भोग सामग्री हमारे पास संचित होकर दूसरे के विकास में बाधक है। अतः वह भी पापयुक्त है। साम्यवाद की समस्त उत्तमताएं केवल अपरिग्री के पालन से प्राप्त हो जाती है। अपरिग्रही ही समस्त विश्व परिधि को सुन्दर एवं सकजुट बना देता है। वर्तमान में मनुष्य में अपरिग्रह समाप्त हो गया है। हां लेकिन संग्रह द्रुतगति से अथवा स्थान विस्तारित करता चला जा रहा है। इसका मुख्य कारण है। अपनत्व की भावना का झस हो जाना। आज का परिवेश परहित की भावना से परे हो स्व हित-स्व-सुखाय की दौड़ में पूरी तरह से मशरूफ है। कभी वेदों की पंक्तियां इस बात को कहा करती थीं

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्व सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।"[36]

अर्थात- सभी सुखी हों, सभी निराग तथा सभी का कल्याण हो। इस विश्व ब्रह्मण्ड में कोई दुःखी न हो, की कामना की गई है। इस समाज में आज इसकी हासित पृष्ठभूमि नजर आ रही हैं। इसी मन्त्र को यदि उल्टा कर दिया जाए तो आधुनिक युग इस प्रकार से प्रकट होता है-

"सर्वे भवन्तु दुःखिनः, सवे सन्तु रोग मयाः ।
सर्वे वनति पशुयन्ति, मा कश्चिद् सुखःभाग्यवेत् ।।"

ये आज का वास्तविक स्वरूप है। जहां हर पहला देसरे से द्वेष ईर्ष्या, दम्म एवं कटुता रखता है। आज मनुष्य में पशुता समा गई है। कटुता एवं ईर्ष्या का अलंकरण लगभग सभी के अन्तःस्थल में विद्यमान है। आज कोई किसी को परिश्रम करते नहीं देख सकता तो किसी को प्रसन्न देख पाना इसके लिए कहाँ ऐसी भावनाओं के मंथन से पता चलता है कि योगमुक्त जीवन के न होने के कारण ही ऐसी भावनाएं जीवन में हस्तक्षेप करती हैं। व्यक्ति स्वयं को भुला चुका है और औद्योगिकता की अन्धी दौड़ में दौड़ने में लगा हुआ है। उसे इस बात का तनिक भी आभास नहीं है कि इस अंधी दौड़ में उसे ऐसी ठोकर लगेगी कि वह लंगड़ा भी हो जायेगा तथा वह पूर्ण अपाहिज की भांति अपनी जीवन गुजारेगा, क्योंकि जहां अपरिग्रही का जीवन सुखी समुन्नता रहता है, वहीं संग्रही का सम्पूर्ण जीवन उच्चछ्रश्रृंखलित जीवन विचार एवं सुख पूर्ति में चला जाता है। इस भाग में उसके पास बस बचता है पछताना और ग्लानित जीवन। अतः महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "योगी को अपरिग्रही होना चाहिए।" योग की कसौटी पर खरा उतरने के लिए अपरिग्रह महत्वपूर्ण तथ्य है। पं० श्री राम शर्मा आचार्य जी ने कहा है- "मनुष्य का पेट तो सूखी रोटियों से भी भरा जा सकता है, लेकिन भूखी नजरें दुनिया की पूरी दौलत भी नहीं भर सकती।" आज मानव का मना निम्नता की उबड़-खाबड हासिल संवेदनाओं से भर गया है। मनुष्य गिद्ध दृष्टि जमाये पर सुख के हरण हेतु ऊँची अटारी पर बैठा है तथा समय का इन्तजार कर रहा है। जब तक इनमें यौगिक भावनाओं का समावेश नहीं हो जाता, जब तक मन यूं ही अस्त-व्यस्त विचारों के शिकन्जे में रहेगा। योग मोक्ष प्राप्ति का प्रथम द्वार है। शांकर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी अपरिग्रह को योग का प्रथम द्वार कहा है। कुछ ग्रन्थों में इस प्रकार से वर्ण प्राप्त होता है

"योगस्य प्रथमं द्वारं वाडनिरोधोऽपरिग्रह ।
निराशा च निरीहा व नित्य मेकान्तशीलता ।।"[37]

अर्थात-योग का प्रथम द्वार वाणी का संयम, अपरिग्रह, निराशा, निरीहावस्था और नित्य एकान्तवास है। पतंजलि ने भी अपरिग्रही की यही विशेषताएं बताई हैं।

नियम-

"शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्राणिधानानि नियमाः ।।[38]

1. शोच (ब्रह्म तथा आभ्यन्तर शुद्धि)

2. संतोष (हर स्थिति में प्रसन्न रहकर सब तरह की तृष्णा से मुक्ति)
3. तप (भूख, प्यास, सर्दी- गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान, हर्ष- शोक आदि द्वन्दों को सहन करना।)
4. स्वाध्याय (वेद-उपनिषद, योग गीता आदि आध्यात्मिक तथा मोक्ष सोपानों का मनन एवं प्रणव चिन्तन)
5. ईश्वर–प्राणिधान(समर्पित भाव से कर्मों का ईश चरणों में समर्पण)

1. शौच- शौच का अर्थ स्वच्छता से होता है। स्वच्छता का मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। शारीरिक संवर्धन एवं मानसिक विस्तार की दृष्टि से महर्षि पतंजलि ने शोच को दो भागों में विभाजित करते हुए बाह्य शौच एवं आन्तरिक शौच के नामों का अलंकरण प्रदान किया है।

(क) **बाह्य शौच-** बाह्य शौच के अन्तर्गत गोबर, मिट्टी एवं जल द्वारा बाह्य शरीर की स्वच्छता के विषय में बताया गया है। महर्षि ने वर्णित किया है कि शौच परोक्ष रूप से एकाग्रता प्रदान करने में सहायक होता है। जिससे आन्तरिक मने को प्रसन्नता होती है। चित्त एकाग्रता के लिए एवं मोक्ष के लिए प्रसन्नता एक मूलभूत निधि है। चित्त की एकाग्रता इन्द्रियों पर विजय दिलाती है तथा आत्म दर्शन भी इसी की ही फलश्रुति है। अतः बाह्य जीवन को सुन्दर, सुगठित, समुन्नत बनाना बाह्य शौच का कार्य है।

(ख) **आभ्यान्तर शौच -** चित्त में प्रसुप्त और कियमान मलों का निष्कासन ही आभ्यान्तर शौच है। राग (विलासित प्रेम) ईर्ष्या (जलन की भावना), परापकारचिकीर्णा (विरोधी से शत्रुता), असूया (दूसरों पर दोषारोपण) तथा अमर्प (दूसरों के वचनों से स्वयं को गलत समझ लेना) एवं द्वेष (किसी दूसरे से अपनी वस्तु का जुडाव) |ये छः चित्त को कलुषित करते हैं। इनकी पूर्णतया शुद्धि ही आभ्यन्तर शौच है। शौच के इन छः अंगों का विस्तारित वर्णन इस प्रकार से है

(अ) **राग कालुष्य-** किसी के प्रति विलासित प्रेम को तथा लगातार उसी में रत रहने को राग कहते हैं लेकिन जब इसमें किसी भी प्रकार का विक्षेप या कमी आ जाती है तथा वह जीव के हृदय को कलुषित कर देता है एवं चित्त में दुःख व्याप्त हो जाता है। इसको महर्षि ने राग (अति प्रेम) कालुष्य नाम से सम्बोधित किया है।

(ब) **ईर्ष्या-कालुष्य-** दूसरों के सुख एवं योग्यताओं से जलन तथा उसके प्रति कुण्ठित हृदय से विचार करना ईर्ष्या-कालुष्य हैं। ये रज-तम की अधिकता वालों के लक्षण विशेष होते हैं।

(स) **परापकारचिकार्षा**– कालुष्या-किसी से झड़प हो जाने पर उसका विनाश कर देने की इच्छा परापकारचिकीर्षा कहलाती है। इसमें भी रज-तम की अधिकता प्रभावी हो मन को कलुषित कर देता है।

(द) **असूया - कालुण्य-** प्रत्येक व्यक्ति फिर चाहे व योगी ही क्यों न हो, के व्यक्तित्व पर

दोषारोपण करना असूया कहलाता है। इस चित्त की स्थिति वाला व्यक्ति, पूजा, पाठ करने, नियम से रहने वाले सदाचारी व्यक्तियों को ढोंगी, पाखण्डी आदि कहते हैं।

(य) **द्वेष-कालुण्या-** जिन सुखद विषयों का राग होता है। उसमें बाधक व्यक्तियों के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है।

(र) **अमर्ष कालुण्य-** गलत व्यक्तियों की बातों में फंस स्वयं को गलत ठहराना अमर्ष कहलाता है। यह भी व्यक्ति के चित्त को कलुषित करती है। महर्षि ने इन छः कालुण्यों को दूर करना मुख्य रूपेण बताया है। इन्हीं से निवृत्ति को आन्तरिक शौच कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने इनसे निवृत्ति के उपायों के विष में कहा है

"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातस्चित्त प्रसादनम्।।"

अर्थात- दुःखी, सुखी, धर्मात्मा तथा पापी व्यक्तियों के बारे में क्रमशः मित्रता, करुणा, हर्ष तथा उदासीनता की भावना रखने से चित्त प्रसन्न तथा निर्मल होता है। मित्रता जीवन की परम पराकाष्ठा होती है। मित्रता की भावना उच्चस्तरीय सुख है। मित्र की खुशियों से मित्र को उसी प्रकार हर्ष प्राप्त होता है। जैसे पुत्र की प्रगति से पिता को। अतः ऐश्वर्य सम्पन्न सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना रखने से ईर्ष्या रूपी मल चित्त से निवृत्त हो जाता है। पर नैनों में छलकते आंसुओं से हृदय का मार्मिक आलिंगन एवं उनके सुख की भावना से परापकारचिकीर्षा रूपी मल समाप्त हो जाता है। पर हित को स्वहित समझने वाली श्रेष्ठ आत्माओं के प्रति हृदयिक मुदिता का भाव असूया - कालुण्य को चित्त में नहीं रहने देती। गलत आचरण करने वाले, समाज विरोधी एवं गलत नीतियों से चलने वालों के प्रति उपेक्षा की भावना से द्वेष तथा अमर्ष-कालुष्य नष्ट हो जाता है। इन्द्रियों में अधिकार प्राप्त करने के पश्चात ही आत्म साक्षात्कार का आंचल थामा जा सकता है। जिस प्रकार खर-पतवार वाले खेत में बीज आरोपित नहीं किये जाते, उसी प्रकार मलिन हृदय में सत्व का अलंकरण नहीं होता। हिन्दू धर्म में शौच का बड़ा महत्व है।

पं० श्री राम शर्मा आचार्य ने शौच की परिभाषा देते हुए कहा है- स्वास्थ्य शौच के ऊपर निर्भर है। बीमारियों का एकमात्र कारण अशौच है। हर घड़ी शरीर में मलीनता उत्पन्न होती है, इसलिए इसकी सफाई पर सावधानी के साथ ध्यान रखना चाहिए। पेट में जो मल उत्पन्न होता है, उसे नित्य समय त्यागना चाहिए। आन्तरिक शौच के लिए कहा है-मन में जो ईर्ष्या, द्वेष की भावनाएं दूसरों के लिए भरी हैं, वे इस मन को अन्तःचेतना का ज्ञान नहीं करने देती है।

आज तो शौच के नाम पर लोग हंसते हैं तथा उसे ढोंग पाखण्ड तथा मूर्खता बताते हैं किन्तु वे ये नहीं जानते हैं कि शरीर और मन की मलीनता से आज आन्तरिक संकट चरम अवस्था पर है। महर्षि पतंजलि एवं अन्य यौगिक संहिताओं में शुद्धि कियाओं के अंतर्गत नेति, बस्ति, नौलि, त्राटक व कपालभाति आदि को स्वीकाग्र किया है। आधुनिक युग में इन क्रियाओं को रोग निवारण हेतु प्रयोग में लाया जा रहा है। कुछ शिक्षा संस्थानों जैसे मुंगेर विश्वविद्यालय (बिहार) देव संस्कृति विश्वविद्यालय (हरिद्वार) तथा लोनावाल (पूना) में इन यौगिक क्रियाओं का अध्ययन एवं विशेष प्रायोगिक विधियां बतायी जाती हैं। आज शारीरिक

एवं मानसिक संवर्धन की दिशा में इन क्रियाओं का विशेष योगदान हैं। आज व्यक्ति कबीर की इस पंक्ति की ओर निहार रहा है।

"कबिरा मन निर्मल भया, जैसे गंगा नीर। पाछे-पाछे हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर।।"

आज व्यक्ति भौतिकता का मूल्यांकन आध्यात्मिकता से करने की ओर प्रयत्नशील हैं। विश्व कल्याण के लिए शौच एक सरल माध्यम है। अतः शौच की इन विधियों के प्रति उलाहना भरे कदम न उठाकर प्रशस्ति के कदम उठाने की महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

2. संतोष-किसी कवि ने क्या खूब कहा है

"गोजधन, गजधन, बाजधन और रतन धन खान | ज्ब आवे संतोष धन, सब धन धूरी समान।।"

अर्थात-किसी व्यक्ति के पास अपार सम्पदा हो, धन हो, घर आदि किन्तु फिर भी कुछ पाने की लालसा रहती है लेकिन जब उसके पास संतोष धन आ जाता है तो अन्य सभी धन धूल के समान हो जाते हैं। तातत्पर्य है मन की तुष्टि ही संतोष की पिरणति है। संतोष समस्त सुखों को देने वाला तथा असंतोष समस्त पापों को आन्दोलित करने वाला है। कहा भी गया है

"संतोष परमासथाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि संखं दुःखमूलं विपर्ययः।।[39]

अर्थात- -सुख की इच्छा करने वाला पर संतोषी और संयमी बने क्योंकि सुख का मूल कारण संतोष है और दुःख का मूल कारण असंतोष है। आगे वर्णित है

"आशावैवश्यविवरां चित्ते सन्तोषवर्जिते। म्लाने वस्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति।।"[40]

अर्थात- संतोष रहित आशा वशीभूत चित्त में ज्ञान उसी प्रकार से प्रकाशित नहीं होता है जैस मलिन दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता।

"संतोषमुपुहष्टमनसं भ्रत्या इव महर्द्धयः। श्राजानमुपतिष्ठन्ति किंकरत्वमुपागताः।।"[41]

अर्थात-जिस प्रकार राजा के सेवार्थ अनेक दास आदि सदैव तत्पर रहते हैं। उसी प्रकार संतुष्ट व्यक्ति की सेवा के लिए महा ऋद्धियां सिद्धियां उपस्थित रहती हैं। संतोष से प्रसन्नता, खुशी और आनन्द की प्राप्ति होती है। इस श्लोक से इसकी पुष्टि होती है

"भुत् प्रीतिः प्रमोदो हर्षः प्रमोदामोद सम्पदा।।"[42]

अर्थात – संतोष का मतलब आलस्य तथा प्रमाद नहीं होता है और न ही पुरुषार्थ हीनता ही इसका मतलब है। संतोष तृष्णा के नष्ट हो जाने को कहते हैं। तृष्णा के ास की उत्पत्ति से जो सुखानुभूति होती है, उसका वर्णन अवर्णनीय है।

पं० श्री राम शर्मा आचार्य जी के अनुसार[43] **-** आजकल संतोष का मतलब समझा जाता है निठल्ले बैठे रहना, कूड़ा कचरा खाना व हाथ-पांव न हिलाना, उद्योग न करना, पुरुषार्थ से इन्कार करना, पराश्रित रहना तथा कहीं कुछ भी मिले उसी में काम चला लेना, भाग्य के भरोसे बैठे रहना, आपत्तियों के निवारण की

कोशिश न करना। आमतौर से संतोष का यही अर्थ लेते हैं किन्तु यह अथ का अनर्थ होता है। प्रयत्न करना उद्योग करना, निरन्तर ऊंचे चढ़ना, आगे बढ़ना और ऊंची परिस्थितियां प्राप्त करने की चेष्ठा करना मनुष्य का प्राकृतिक धर्म है। संतोष की तरफ लाग भ्रांतित जीवन जीते या गलल विचारों के लिए बैठे हैं कि संतोष से समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजैतिक, प्रगति बाधक होगी किन्तु ये इसके वास्तविक मर्म को नहीं समझते। संतोष का वास्तविक अर्थ गुरुदेव ने समझा। उन्होंने इसका पूर्ण परिष्कृत रूप परिमार्जित किया है। जीवन में संतोष की उच्चस्तरीय साधना करने वालों में गुरुदेव (पं० श्रीराम शर्मा आचार्य) ने उच्चस्तरीय महामानव कहे जाते हैं। महात्मा गांधी ने भी संतोष का पाठ पढ़ाया है। जब तक मानव में सभ्यता का पूर्ण विकास नहीं हो जाता, उसका कल्याण असंभव है। जब तक व्यक्ति स्वार्थ वादी दृष्टिकोण रखेगा, उसकी चातुर्दिक प्रगति असंभव है। अतः संतोष जीवन के सुखमय जीवन एवं उत्साहित यौवन के लिए मूलभूत और अनिवार्यता है।

3. तप–चित्त का निग्रह, कृप्रवृत्तियों का दमन तथा विषयों से विमुख होना ही तप है। वेद विधि के अनुसार कुछ चान्द्रायणादि व्रतोपवास के द्वारा शरी को शुष्क करने का नाम उत्तम तप है।

"विहयुक्त कृच्छ्र चान्द्रायणादिभिः शरीर शोधनम्।।"

अर्थात् विधि पूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायणादि द्वारा शरीर का शोधन करना तप कहलाता है। शास्त्रों में तप का लक्षण भी बताया गया है- 'इच्छा निरोधे तपः' । इसके अनुसार अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं, इन्द्रिय पवित्र वासना तथा मन की विभिन्न अभिलाषाओं का निरोध करके उन्हें निर्मूल करना, उसके परिपोषण के प्रति उदासीन रहना, कठोरता पूर्वक शरीर इन्द्रिय-मन का विग्रह करना तप कहलाता है।

गीता में तीन प्रकार के तपों का वर्णन है

1. सात्विक तप-जो बिना स्वार्थ, बिना किसी अपेक्ष के किया जाता है, वह सात्विक तप है।[44]
2. राजसिक तप-जो स्वार्थ के लिए किसी अपेक्षा के साथ किया जाता है, वह राजसिक तप है।[45]
3. तामसिक तप- जो दूसरों को नुकसान या हानि पहुंचाने की भावना से किया जाता है, वह तामसिक तप है।[46]

महर्षि पतंजलि ने तप का महत्व बताते हुए कहा है-

"कायेन्श्दियसिद्धि रशुद्धिक्षयात्तपराः ।'' अर्थात तप के प्रभाव से व्यक्ति सभी प्रकार की मलिनताओं को दूर करता है तथा योग की उच्चावस्था मोक्ष या समाधि को प्राप्त कर लेता है। तप, पीत वस्त्र धारण कर वन जाने का नाम नहीं है और न ही कन्द मूल खा जीवन निर्वहन का ही नाम तप है। तप का आचरण तो गृहस्थ व्यक्ति अपनी शक्ति व सामर्थ्य से अपने शरीर मन और अन्द्रियों को नियंत्रण कर सकता है। महर्षि ने तप को कियायोग के अंतर्गत रखा है।

"तप स्वाध्यायेश्वर प्राणिधानानि कियायोगः ।।"[47]

अर्थात-तप-स्वाध्याय एवं ईश्वर प्राणिधान ये कियाएं ही योग हैं। अतः इन्हें क्रियायोग के नाम से जाना जाता

हैं। तप का आचरण शरीर वाणी व मन तीनों से होना चाहिए। यदि शारीरिक तप किया जाएगा तो वाणी व मन तीनों की शुद्धि होनी चाहिए। तभी वह पूर्ण तपस्वी कहलाएगां तप से व्यक्ति सहनशील, कष्ट सहिष्णु, धार्मिक, तेजस्वी, ओजस्विता पूर्ण हो जाता है। अतः तप जीवन को निष्कर्ष देने वाला एवं उसे उत्साहित एवं परिमार्जित करने में पूर्ण समर्थ है।

4. **स्वाध्याय**–स्वाध्याय का यहां दो अर्थ लिया जा सकता है। पहला आचार्य विद्वानों ओर गुरुजनों से वेद, उपनिषद दर्शन आदि मोक्षशास्त्रों का अध्ययन करना और दूसरा स्वयं वैदिक ज्ञानों का सर्वेक्षण । वस्तुतः स्वाध्याय सत्संग का प्रकासत्तर है। इसके जरिये हमारे हृदय में जो प्रश्न उठते हैं उसका समर्थन एवं शंकाओं का उछेदन होता है। महर्षि व्यास ने कहा है

"स्वाध्यायः प्रणवादियवित्राणां जपो मोक्षशासत्रध्ययनंवा ।।"[48]

अर्थात- स्वाध्याय शब्द से प्रणव आदि ओंकार पुरुष सूक्त रूद्रमण्डल आदि वैदिक मंत्रों का जप बतलाया गया है। मोक्षशास्त्र के अध्ययन को भी स्वाध्याय बतलाया गया है। अध्यात्म तथा आत्मा की अभिव्यक्तियों को सजा-संवार कर प्रस्तुत करने का नाम तथ स्वाध्याय है। जीवन के रहस्यों को परत दर परत खोलने की चाबी स्वाध्याय ही है। अतः स्वाध्याय विषयान्तर बोध की गहनतम परिणति का नाम है। पं० श्री राम शर्मा आचार्य जी ने इसके दो रूप बताये हैं

1. स्वाध्याय
2. सत्संग

ऋते ज्ञानान्त मुक्ति- अर्थात ज्ञान के बिना मुक्ति संभव नहीं है। अतः जब तक मनुष्य को ज्ञानोपलब्धि नहीं होगी तब तक उसे मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती और वह ज्ञान स्वाध्याय द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। स्वामी दिगम्बर जी ने स्वाध्याय के तीन तत्व बताए हैं।

1. पठनम्-शब्द को पढ़ना।
2. अधीनतम्-अर्थ समझना।
3. चिन्तन- उसका चिन्तन मनन करना।

स्वाध्याय एक ऐसी उच्चस्तरीय विधा है जिसके द्वारा श्रेष्ठतम् ज्ञान की प्राप्ति पूर्णतया सम्भव है। अतः योगियों के लिए स्वाध्याय को अति आवश्यक स्वीकार किया गया है। स्वाध्याय जीवन को श्रेष्ठ मार्ग पर प्रशस्त करती है। जीवन के उर्ध्व गमन एवं उच्चस्तरीय चिन्तन के लिए स्वाध्याय पूर्ण है। मात्र शब्दों का ज्ञान प्राप्त करना स्वाध्याय नहीं है। अर्थ का हृदर्थिक विश्लेषण ही इसकी परिणति है। त्रैतरीय ब्राह्मण में उसका एक कथा वर्णित है

भारद्वाज मुनि ने 300 वर्षो तक वेदों का स्वाध्याय किया पर वेदों का अंत न पा सके। एक दिन पुरन्त देवराज इन्द्र वहां आए और भारद्वाज मुनि ने पूछा कि मुनिवर ! यदि आपको सौ वर्ष की आयु और मिल जाए तो आप उसका क्या उपयोग करेंगे? वेदों का स्वाध्याय करूंगा। भारद्वाज मुनि ने उत्तर दिया । इन्द्र ने पुनः कहा

कि यदि आपको और 100 वर्ष की आयु मिल जाए तो आप क्या उपयोग करेंगे? पुनः एक ही उत्तर था-वेदों का अध्ययन करूंगा। वेदों का अध्ययन या स्वाध्याय दो प्रकार से किया जाता है। एक शब्द प्रधान के रूप में दूसरा है अर्थ प्रधान के रूप में। पाण्डिल्य पेशा वर्ग में मात्र शाब्दिक अध्ययन किया जाता है। वे अर्थ की प्रधानता पर विशेष ध्यान नहीं देते। भारद्वाज मुनि का स्वाध्याय भी इसी प्रकार का था। देवराज को भान हो गया कि भारद्वाज पाठ वयसन के आदी बन चुके हैं। परिणामतः उन्होंने निर्णय लिया कि इनका भ्रम दूर करना चाहिए। ऐसा विचार कर इन्द्र ने वेदों को एक पहाड़ के रूप में दिखाया और एक-एक मुट्ठी भर कर कहा कि मनिवर! आज तक आपने इतना ही वेद का स्वाध्याय किया है, इतने अभी शेष हैं। वेद तो अनन्त हैं- "अनन्ता वै वेदाः ।।"अतः वेद प्रतिपादित उस ब्रह्मतत्व को जानो जिस को जान लेने पर कुछ भी शेष नहीं होता। अर्थात सर्वज्ञान संग्रह हो जाता है। इससे भारद्वाज मुनि का भ्रम दूर हो गया वे समझ गये और यथाथता का अध्ययन कर जीवन को सार्थक एवं धन्य बनाया। अतएव योगी को केवल पाठव्यसन ने न पड़ वास्तविक अध्ययन की ओर दृष्टि केन्द्रत करनी चाहिए। यही स्वाध्याय है। सुकरात ने कहा है- "श्रेष्ठ साहित्य के अध्ययन से व्यक्ति का चरित्र दृढ़ होता है।" मनोवैज्ञानिक हंट ने भी इसी पर बल देते हुए कहा है श्रेष्ठ साहित्य का अध्ययन परिष्कृत व्यक्तित्व का उन्नायक होता है। अतः श्रेष्ठ साहित्यों के यथार्थ स्वरूप को भलीभांति जानने समझने व ग्रहण करने की ओर सुदृढ़ कदम उठाना लाजमी है।

म्हर्षि पतंजलि ने कहा है-**"स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः ।"**[49]

अर्थात सर्वियाय से अभिष्ट देवता से साक्षात्कार हो जाता है। अभिप्राय यह है कि शास्त्राध्ययन, मन्त्र, जप (प्रणवादि मन्त्र) और उनके जीवन का अध्ययन तप, स्वाध्याय, करने से योगी, जिस इष्ट देवता का अध्ययन करना चाहता है, उसी का उसे दर्शन हो जाता है। 'पं० श्रीराम शर्मा आचार्य जी ने ज्ञानवर्धन के विषय में कहा है

क-ज्ञान कहीं से, किसी से भी और किसी भी मूल्य में मिले उसे ले लेना चाहिए। ख-अच्छी पुस्तकं जीवनदेय प्रतिमाएं है। उनकी साधना आराधना से तत्काल प्रकाश व उल्लास मिलता है। सम्भवतः देखा जाए तो समाज में फैली बुराईयों, ढोंग, आडम्बरों, कुरीतियों आदि का शमन स्वाध्याय के द्वारा किया जा सकता है। अतः स्वाध्याय ज्ञान (विशेष) का मूल-पाठ अलंकरण है।

5–ईश्वर–प्राणिधान–ईश्वरद की उपासना या भक्ति को ईश्वर प्राणिधान कहते हैं। ईश्वर-प्रणिधान दो शब्दों से मिलकर बना है। प्रथम है ईश्वर-परमात्मा, द्वितीय है- प्रणिधान- परमात्मा को हृदय में अभिव्यंजित करना। व्याजी कहते हैं— **"ईश्वरप्रणिधाम तस्तिन परमगुरौ सर्वकर्मर्पणम्।।"**[50]

अर्थात- सम्पूर्ण कर्मफलों के सहित समस्त कर्मों को परमपगुरु परमेश्वर के निमित्त अर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। योग दर्शन के अनुसार ईश्वर प्राणिधन का अर्थ है- "ईश्वर की शरण में जाना। "उसी की आज्ञानुसार आचरण करना। अनन्त प्रेम, श्रद्धा और भक्ति रखना। ये सभी प्रणिधान के अंतर्गत आते हैं। ईश्वर प्रणिधान ईश्वर भक्ति का ही पर्याय है। जिस प्रकार आकाश से गिरी बूंद सागर में विलीन हो, उसी के रूप का वरण कर लेती है, उसी प्रकार जीवन प्रणिधान द्वारा परमात्मा के स्वरूप का वरण कर लेता है।

महर्षि पतंजलि ने कहा है-"ईश्वर प्रणिधानद्वा।।"[51] अर्थात- ईश्वर प्रणिधान द्वारा शीघ्र समाधि लाभ होता है। ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है-

"क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टाः पुरुषविशेष ईश्वरः ।।"[52]

अर्थात-क्लेश, कर्म, कर्मों के फल ओर वासनाओं से असम्बद्ध अन्य पुरुषों से विशेष चेतन ईश्वर है। महर्षि पतंजलि ने आगे वर्णित किया है- "समाधि सिद्धीरीश्वरप्रणिधानात् ।।" अर्थात -समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है। कहने का तात्पर्य है कि ईश्वर की शरण में आने वाल शीघ्र ही योग के परमपद समाधि को प्राप्त कर चिर-चेतन हो जाता है। महषि पतंजलि ने ईश्वर- प्रणिधान को कियायोग के अंतर्गत रखा है। ईश्वर प्रणिधान द्वारा मध्यम कोटि के साधक समाधि को भी प्राप्त कर सकते हैं। परमात्मा सत है और वह आदि और अनन्त हैं उसकी सत्ता चिरस्थायी है। निरपेक्ष है। तथा अत्यक्त है। अतः परमात्मा जीवन का सत् और सत् का भी सत् है। "त्रैकालिक बन्ध शून्या" अर्थात भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में जो बन्धन आदि से मुक्त है। "मायाविशिष्ट चैतन्यम् ईश्वर ।।"[53] अर्थात्-माया विशिष्ट चेतन तत्व का नाम ईश्वर है। उपरोक्त वाक्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापी है। महर्षि पतंजलि ने ईश्वर के ओंडकार स्वरूप स्वीकार्य किया है। वर्णित है-"तस्य वाचकः प्रणवः ।"[54] अर्थात उस ईश्वर को बोधन याद ओऽम है।

मुनुष्य जीवन में मोक्ष परम पुरुषार्थ है। ईश्वरोपासना से शीघ्र ही सिद्धी मिल जाती है। इसी से पंच वृत्तियों का तथा पंच क्लेशों का झस होता है। अतः योगी को चाहिए कि वह मात्र परमेश्वर का मनन, अर्चनत्र वन्दनत्र चिन्तन तथा निधिध्यासन गुरु के रूप में करें। महर्षि कहते हैं- **"पूर्वषामपिगुरुः कालेनानवच्छेदात् ।।**[55]

अर्थात् वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मदिकों का भी गुरु है, क्योंकि वह कालसे परिछिन्न नहीं है। ईश्वर सभी कालों से परे तथा चिर चेतन है। अतः उसी के स्परूप में भ्रमण तथा उसी के अलंकरण का आच्छान्छन वास्तविक सत को प्राप्त कराने में पूर्ण समर्थ है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है- "ये यथा में प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।।"[56] अर्थात जो मुझे जैसा भजते हैं मैं भी उन्हें वैसा ही फल देता हूँ। कहने का तात्पर्य है जिसकी जैसी भक्ति होती उसको उसी रूप में परमात्मा का साक्षात्कार होता है। वह उसी रूप में इष्ट को देवता और वरण करता है। कबीरदास जी ने कहा भी है-

"जाकी रहे भावना जैसे, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।।" कहने का तात्पर्य है कि परमात्मा प्रत्येक स्थान पर मौजूद है लेकिन भक्त जिस रूप में भजन करता और स्मरण करता है उसी रूप में उसे प्राप्त कर उसका वरण कर लेता है। अतः पगडण्डियों में न भटककर परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का वरण तथा उसी में विलय ही ईश्वर प्रणिधान का वास्तविक स्वरूप है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. त्रिशिखोपनिषद् -2/ 29
2. तेजोविन्दूपनिषद- 1/7
3. बलदेव उपाध्याय - भारतीय दर्शन-पृष्ठ- 301

4. अखण्ड ज्योति – (अप्रैल 2001) - पृष्ठ- 21
5. स्वामी विज्ञानान्द जी - हठयोग विद्या-पृष्ठ-21
6. सिंह एवं सिंह भारतीय दर्शन
7. पतन्जलि का सुप्रसिद्ध वाक्य-चित्त वृत्ति निरोध जिस पर सम्पूर्ण योग सूत्र की आधार शिला टिकी है।
8. शिव कुमार गौड़- स्वस्थ्य वृत्तम पृष्ठ 291
9. योग दर्शन-2/30
10. भागवत पुराण-33/20/23
11. वशिष्ठ संहिता-1 / 38
12. आचार्य रामानुज जैन-योग आयुर्वेद-पुष्ठ 78
13. योग दर्शन-2 / 30
14. शाण्डिल्योपनिषद- 1/1/5
15. तत्वार्थ सूत्र
16. दर्शनोपनिषद् -1/7/8
17. आध्यात्मिक मान्यताओं वैज्ञानिक का प्रतिपादन - 62
18. मनुस्मृति -8 / 350
19. गीता-4/7 श्लोक
20. व्यास भाष्य-2 / 30
21. वशिष्ठ संहिता- 1 / 39 / 40
22. वाग्भट्ट सूत्र-1 /2/22
23. मनु स्मृति- 4 / 138
24. महाभारत शास्त्र - 326/13:287/16
25. तृतीय मुण्डकोपनिषद-1 /7 / 5
26. कबीरदास की साखी-1
27. ताण्डय ब्राह्मण- 8/6/13
28. व्यास भाष्य- 2 / 30
29. दर्शनोपनिषद- 1/30

30. दश संहिता- 7 / 31,32
31. योग वशिष्ठ- 1 / 26/10
32. योग सूत्र (व्यास भाष्य) - 2 / 30
33. अथर्ववेद 1/2/15
34. अथर्ववेद - 1/5/19
35. शाण्डिल्योपनिषद् -1/1/8
36. लौगाक्षि स्मृति - 2
37. विवेक चूड़ामणि - 368
38. पातन्जलि योग सूत्र- 1 / 33
39. मनुस्मृति -4/12
40. योग वशिष्ठ- 1/15/9
41. योग वशिष्ठ-1 /15/16
42. अमरकोश (प्रथम काण्ड) - 124 श्लोक
43. पं० श्रीराम शर्मा आचार्य-साधना पद्धतियों का ज्ञान विज्ञान पृ० 73
44. भगवद गीता- 17/17 श्लोक
45. भगवद् गीता-17 / 18 श्लोक
46. भगवद गीता - 17 / 19 श्लोक
47. पातन्जल योग सूत्र-2/1 सूत्र
48. पातन्जल योग सूत्र (व्यास भाष्य) - 2/1 सूत्र
49. पातन्जल योग सूत्र-1 / 44
50. पातन्जल योग सूत्र-2 / 32 सूत्र
51. पातन्जल योग सूत्र-1 / 23 सूत्र
52. योग सूत्र - 1/24 सूत्र
53. वेदान्त दर्शन
54. गीला-1 / 26
55. गीता - 4/11

3

जैन दर्शन में योग

परिचय

आत्म विकास हेतु आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रागैतिहासिक काल में जो योग का प्रचलन था। सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त ध्यानस्थ योगी का चित्र इस प्रकार की पृष्टि करता है।1 दार्शनिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि भारतीय संस्कृति में तीन धाराएं मुख्य रही है-वैदिक, जैन और बौद्ध। इन तीनों की चिन्तन पद्धति एवं मौलिक विचारधाराएं भिन्न होने के कारण साधना पद्धति में भी विभिन्नता नजर आती है। पूर्व सत्य को उपलब्धि कराने वाला दर्शन वही हो सकता है जो दिव्य दृष्टि युक्त हो। दिव्यदृष्टि का अथ है-अतेन्द्रिय ज्ञान तीव्र तपष्चर्या और तीव्रतम आत्मानुभूति जब परम और चरम सीमा को प्राप्त होती है, तब साधना निरतन साधक की आत्मा समस्त आवरणों को छिन्न-भिन्न करके अनन्त ज्ञान की ओर लोकोत्तर दिव्य ज्योति सी जगमगाने लगती है।

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन एक प्रमुख और प्रभावशाली दर्शन रहा महावीर जैन दर्शन के मूल प्रवर्तक माने जाते हैं। "मित्ती में सत्व भूएसु सब प्राणियों से मेरी मैत्री है। यह भगवान महावीर का आदर्श रहा है। ईसा से 511 वर्ष पहले वैशाली गणतन्त्र के क्षतित्रय कुण्डग्राम में चैत्र शुल्क तेरस को बर्द्धमान का जन्म हुआ। आज का बिहार के मुजफ्फरनगर जिले का बसाढ़ गांव ही वैशाली है। पिता का नाम सिद्धार्थ था। ज्ञातवंशी तथा गोत्र कश्यप था। माता का नाम त्रिशुला था। भाई का नाम नन्दिवर्धन एवं बहन सुदर्शना तथा ये अपनी बगिया के अंतिम पुष्प के रूप में अवतीर्ण हुए थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता है कि युवावस्था में माता-पिता की आज्ञानुसार उन्होंने यशोदा नाम राजकुमारी से विवाह किया तथा एक पुत्री अयोज्जा भी हुई। राजकुमार बर्द्धमान के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। पार्श्वनाथ जैन धर्म के 23 वें तीर्थकर थे और महावीर से 250 वर्ष पूर्व हुए थे। इस परम्परा में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ओर अपरिग्रह चातुर्याय, धर्म का पालन होता था। वर्द्धमान महावीर ने इस चातुर्याय धर्म में ब्रह्मचर्य को जोड़कर पंच महाव्रतरूपी धर्म चलाया। भगवान महावीर ने अपने प्रवचनों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, बह्मचर्य और अपरिग्रह पर सबसे अधिक जोर दिया। त्याग और संयम करूण, शील और सदाचार ही उनके प्रवचनों का सास्तम अंश है। हालांकि जैन दर्शन को नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में रखा गया है। इसमें ईश्वर के स्वरूप का वर्णन नहीं है।

लेकिन जीव मात्र को इन्होंने श्रेष्ठता की ओर प्रसारित कियाह । जैन दर्शन में साधना की पद्धतियां द्वारा जीवन को योगयुक्त बनाने की बात कही गयी है। साथ ही श्रेष्ठ कर्म को श्रेष्ठता प्राप्ति का कारण भी स्वीकार्य किया गया है। इसी बात को लेकर योग भी चलता है। यह भी जीवन को श्रेष्ठ संस्कारों से युक्त करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्ति की बात कहता है। जैन दर्शन अपने आप में पूर्णतया योग मुक्त है। हां इसकी शाब्दिके परिकल्पना जरूर योग से परे है।

जैन दर्शन में योग का स्वरूप

जैन परम्परा में योग एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है- "मन, वचन, कर्म की प्रवृत्ति ।"2 इसकी ओर गमन के रास्ते को भी योग नाम से सम्बोधित किया गया है।3 जैन परम्परा का आधार प्राचीन वैदिक संस्कृति ही है। तथापि निःसंदेह जैनाचार्यों ने प्राचीन परम्परा का पुनरूत्थान कर दार्शनिक वाद-द-विवाद में न पड़कर श्रमण मुनि एवं निवृत्ति मार्ग की परम्परा में मूल योग के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया। जैन सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित योग-विद्या का अनुसरण कर अनेक जैनाचार्यों ने योग के परमपद निर्वाण की प्राप्ति की है। जैन सम्प्रदाय में योग साधना द्वारा निर्वाण प्राप्ति के वर्णन इस प्रकार से प्राप्त होते हैं

"उसहादिजिणवरिंदा एव काउण जागवर भत्तिं ।
णिव्वुदिसुहमावराणा तम्हा धरू जागवर भत्तिं ।।"[4]

वृषमादि जिनवरेन्द्र इस प्रकार योग की उत्तम भक्ति करके निवृत्ति सुख को प्राप्त हुए हैं। इसलिए योग की उत्तम भक्ति तू भी कर। जैनियों के तेइसवें तीथकर महावीर के जीवन में योग का ज्वलंत उदाहरण प्राप्त होता है। उन्होंने पूर्व जन्मों के संस्कारवश युवावस्था में ही विरक्त, होकर गृह त्याग करके, तपस्या करते हुए 12 वर्ष तक मौन व्रत के साथ कठोर तप का अनुसरण कर योगाभ्यास द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त कर निर्वाण लाभ किया। जैनियों के आगम सम्प्रदाय में मन, वचन एवं काम की प्रवृत्ति रूप अर्थ के लिए योग शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन का यदि गहन मन्थन किया जाए तो योग की भांति ये भी-"आत्मा और परमात्मा के संयोग को ही योग माना गया है"

"आत्मप्रयन्त सापेक्ष्ज्ञ विशिष्टा या मनोगतिः । तस्या ब्रह्मणि संयोगो योगइत्यभिधीयते ।।
आत्मानमात्म्नात्यायं युनक्त्येव निरन्तरम्
स योग भक्तियुक्तः स्यान्निश्चयेन मुनीश्वर।"[5]

आत्मा प्रयन्त सापेक्ष विशिष्ट जो मनोगति है उसका ब्रह्म में संयोग होना योग कहा जाता है। जो यह आत्मा, आत्मा को आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है। वह मुनीश्वर निश्चय ही योग भक्ति वाला है। जैन दर्शन इस बात को स्वीकार करता है। कि श्रेष्ठ कार्य, श्रेष्ठ विचार एवं श्रेष्ठता की ओर गमन हेतु शुद्ध मन परमावश्यक है। एक उदाहरण में इन्होंने कहा है जैसे निर्मल आकाश में सूय स्फुटित होता है वैस ही रागादि रहित निर्मल मन में निज परमात्मा भासता है।'6 कहने का तात्पर्य यह है कि- आकाश में जब किसी प्राकर की कलमपता नहीं रह जाती, वह धुध बादल अंधकार आदि से परे हो जाता है तो उसके बहिरंग पर आन्तरिक अलंकरण का पुट सूर्य नवल ज्योति, स्नेहित आभा और उज्जवल प्रकाश के साथ उपस्थित होता है। इस

अवस्था में सूर्य की दैदिव्यता सम्पूर्ण विश्व को गति प्रदान करने वाली होती है। यही समस्त चराचार के हृदय में अभिनव फलख को भरने वाली है। मन आकाशज्ञ की भांति किराट है। मन की विशालता को आकाश की भांति ही नहीं आंका जा सकता है किन्तु इस मन को आसक्ति, मोह, माया, प्रेम आदि की कालुण्यता निरन्तर विचरण करती रहती है। हमारे ज्ञान का प्रकाश माया रूपी अंधकार की ओट में छिपा रहता है और जब भी वासनात्मक आसक्तियों एवं सांसारिक माया का ह्रास होता ज्ञान मन की गहराई से निकल समस्त संसार को प्रकाशित करता हुआ विश्व-ब्रह्मण्ड रचयिका परमात्मा के स्वरूप में विलय हो जाता है। अन्यत्र भी इसी से सम्बन्धित वाक्यों को वर्णन प्राप्त होता है-उदाहरणार्थ- "जिसका मन रूप प्रचण्ड पवन से नहीं चलायमान होता है, उसी भव्य जीवन की आत्मा निर्मल होती है, एवं शीघ्र प्रत्यक्ष हो जाती है।"

इसी के अगले चरण में इस बात का वर्णन प्राप्त होता है- जिन्होंने अपने मन को ही वश में नहीं किया तो वे योग को कैसे प्राप्त हो सकते हैं। अतः कहने का तात्पर्य है कि योग को पूर्णतः या प्राप्त करने के लिए मने को वश में करना परमावश्यक है।

"जेणणिरंजणि मणु धारिउ विसय-कसायहिं जंतु।
मोक्खहं कारणु एत्तर अण्णु ण तंतु ण भंतु ।।"[8]

जिन पुरुषों में विषय कषायों में जाना हुआ मन रूपी अंजन से रहित भगवान में युक्त किया। वे ही मोक्ष कारण के अनुयायी हैं और यही मोक्ष का कारण है। दूसरा अन्य कोई भी यन्त्र तथा मन्त्र नहीं है। जो कोई भी संसारी जीव शद्धात्मकता से उलटे विष्य कषायों में जाते हुए मन को वीतराग-निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा पीछे हटाकर निज शुद्धात्मक द्रव्य में स्थापन करता है। वही वास्तव में मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत कोई भी युक्ति फिर चाहे वह तन्त्र होया अन्यत्र कोई असफल ही है। जैनावलम्बि भी अन्य दर्शनों कीभी भांति योग को पूर्णतया स्वीकार करते हैं। हां शाब्दिक परिकल्पना यहां जरूर भिन्न है लेकिन अर्थ का मार्मिक विश्लेषण योग की मार्मिकता को यत्र-तत्र स्पर्श करता है। जैन-योग का साधनात्मक पक्ष।

जैन दर्शन भी बौद्धों की भांति ही अज्ञानत को जन्म का मूलभूत कारण स्वीकार किया गया है। इससे परे होकर इन्होंने ने भी बह्य प्राप्ति अर्थात मोक्ष्ज्ञ की बात की है। परिणामतः जैन दर्शन मन की शुद्धि एवं चरित्र की उच्चता की बात कहता है। चरित्र चेतना का उच्चावस्था तक जहुंचाने का मुख्य मार्ग है। यही वह परिधि है। जिसमें ज्ञान का सूर्य सदैव दैदिव्यमान हो, उसे प्रकाशित एवं ओजित करता रहता है। जैन दर्शन में वर्णित है-तत्वों के ज्ञान के अनन्तर साधक संवर एवं निर्जरा के उपायभूत चरित्र का अनुष्ठान करता है। संसार के कारणभूत रागद्वेषादि की समाप्ति के लिए एवं उससे हरे हटकर शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक शुद्धि कर अपने ब्रह्म ही नहीं अपितु आन्तरिक शुद्धता के पश्चात आपने स्वरूप के वास्तविक अर्थ को समझकर योग-युक्त व्यवहार करना ही "सम्यक चरित्र"[9] कहलाता है।

"ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं कर्मसाध्नचारित्र शब्द।।"[10]

सम्यक चत्रि ज्ञान एवं दर्शन की सिद्धि का कारण हैं। योग की भांति ही जैन सम्प्रदाय में भी चरित्र की पराकाष्ठा अथवा अन्तरंग साधन-ध्यान अथवा समाहित ही है। इसके हेतु पात्रता के लिए जैन दर्शन में

अनेक प्रकार के अनुष्ठानों की बात की गयी हैं, जिसमें – पन्चमहाव्रत, गुप्ति, समिति, तप, आवश्यक, धर्म लक्षण, बारह भावनाएं एवं बाइस परीवह जप आदि महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और यही जैन दर्शन का योग माने जाते हैं।

क.पंचमहाव्रत-यम-नियम की भांति ही जैन दर्शनों में महाव्रतों के पालन को प्रथमतः अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। कुमानुसार ये पंचमहाव्रत इस प्रकार से हैं –

1. अहिंसा व्रत
2. सत्य व्रत
3. अस्तेय व्रत
4. ब्रह्मचर्य व्रत
5. अपरिग्रह व्रत

उदाहरणार्थ- "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिव्रतम्।।"11 हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, ब्रह्मचर्य, परिग्रह, इनसे मन, वचन, काय का निवृत्त होना ही व्रत है।

महाव्रतों का कमवार विस्तृत वर्णन इस प्रकार से है

1. **अहिंसा व्रत-** सृष्टि के चराचर मनुष्य, पशु, पक्षी अथाव प्राणियों को मन, वचन एवं काय से किसी भी प्रकार का घात नहीं पहुंचाना अहिंसा है। मूलाचार में इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है -

"एइंदियादिपाणां पंचविहावज्जभरूणां सम्यं।
ते खलुण दि सिदत्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ।।[12]

एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के हैं। पाप भीरू को सम्यक् प्रकार से मन, वचन, कायपूर्वक सर्वत्र इन जीवों की कदापि हिंसा नहीं करनी चाहिए। इस व्रत में किसी प्रकार की कोई बाधा उपस्थित न हो तथा इसका पूर्णतया पालन हो जाए इसके लिए जैन दर्शन में पांच-पांच भावनाओं का निर्धारण किया गया है। अहिंसा व्रत की निर्बाधता के लिए पांच भावनाएं इस प्रकार से वर्णित की गयी हैं -

क. वाग्गुप्ति- वचन द्वारा विषयों में जाने वाली इन्द्रियों की प्रवृत्ति से आत्मा की रक्षा करना। तात्पर्य यह है कि सुनी हुई बातों द्वारा हमारे मन में उत्पन्न उसे पाने की इच्छा जो हमें वासनाओं एवं विषय भोगों की ओर उन्मुख करती है। उन वाक्यों से परे और अपनी इन्द्रियों को इनसे भिन्नतम रखना तथा शृद्धतम आत्मा को कषायों से बचानाही वाग्गुप्ति कहलाती है। यह व्रत हमें बुरा न सुनने एवं बुरा न कहने की ओर प्रेषित करता है।

ख. मन के द्वारा विषयों में जाने वाली प्रवृत्ति से आत्मा की रक्षा करना- मन बड़ा ही प्रबल होता है। साथ ही चंचलता की प्रतीति से परिपूर्ण होता है। मन मे निरन्तर उच्चश्रृंखलित विषय भावनाएं हिलोरे लेती रहती हैं यही मन में सांसारिक बन्धनों में बांधन वाला है। मन समुद्र

के समान है। जिसमें निरन्तर चंचल (इच्छायें आकांक्षाएं) लहरें ज्वार-भाटे के रूप में उठती और समाप्त होती रहती है। यही हल उसे अस्थिर बनाती है तथा परिणाम प्रदान करती है। ठीक उसी प्रकार हमारा मन हैं जो हमें निरन्तर विषय वासनाओं की ओर ठीक उसी प्रकार खांचते ले जाता है जैसे कोई जल्ला किसी को फांसी देने ले जाता है। मन भी हमें आत्मिक हनन की और प्रेषित करने वाला है। इसी मन की प्रवृत्ति को रोकना जैन दर्शन में द्वितीय भावना माना गया है।

ग. ईर्या समिति- जन्तुओं की रक्षा करते हुए सावधानी पूर्वक गमन करना। जैन दर्शन की ये भावना सृष्टि के समस्त छोटे-बड़े जीवों, जन्तुओं कीटों आदि के लिए संवर्धन हेतु प्रसारित है। इसमें उन समस्त छोटे-बड़े जीवों की सुरक्षा की बात कही गयीं है जो अकारण ही हमारे प्रकोप का भाजन बनते हैं। अतः उनकी रक्षा हेतु पूर्ण सावधानी के साथ उनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए आवागमन निश्चित करना ही ईर्या समिति कहलाता है।

घ. आसानादि को देखकर सतर्कता पूर्वक ग्रहण करना- यह एक महत्वपूर्ण पहलू है आज के युग में। आज समाज में पूर्णतया प्रतिद्वन्दिता का वातावरण गहनता से छाया हुआ है। दूसरों को देख स्वयं को प्रतिद्वन्दी भावना के साथ उनसे अधिक दिखाने की चाह में शरीर के साथ खिलवाड़ करने लगते हैं। जो हमारे साथ में अन्य लोगों के लिए भी हानिकारक है। अतः जैन दर्शन तीसरी भावना के रूप में इसे ही सम्बोधित करती है।

इ. आलोकित पान भोजन- देखकर किसी वस्तु को खाना या पीना। तात्पर्य है-किमत्ररवाद के लिए भोजन का न ग्रहण करते हुए उसकी गुण विवेचना के साथ ही भोजन को लेना उचित है। यहां पर पथ्य-अपथ्य की बात कही गयी है, जा मस्तिष्क के साथ-साथ स्वास्थ्य को भी पूर्णतया प्रभावित करने वाला है। भोजन में मांस भक्षण अपथ्य है तथा मदिरा पान भी अपथ्य है। अतः व्रत में इनसे परे व्यवहार की बात कही गयी है।

2. सत्व्रत- सुखद परिणाम प्रदान करने वाले सभी कालों में प्रिय अर्थात जो कल भी प्रिय था, आज भी प्रिय है और कल भी प्रिय रहने वाला है। जो सभी का कल्याण करने वाला है। ऐसे सत्य वचनों को बोलना ही 'सत्य महाव्रत' कहलाता है। यथा-

"राणेव वा दोसेण माहेण वा मोसभासपरिणामं ।
जे पजहादि साहु सया विदियवद होइतस्सेव।।"[13]

रागद्वेष अथवा मोह से होने वाले भाषा के परिणाम को जो साधु छोड़ता है, वही दूसरे व्रत की ओर कदम बढ़ाने में सक्षम है। सत्यव्रत में भी अहिंसा व्रत की भांति पांच भावनाओं के पालन की बात कही गयी है। यथा-

1. वाणी विवेक त्याग
2. क्रोध

3. लोभ त्याग
4. भय त्याग
5. हास्य त्याग

ये समस्त भावनाएं श्लोक के रूप में उद्धृत की गयी हैं-यथा

"हस्सभ्यकोहलोहा मणिवचिकायेण सत्वकालम्मि ।
मोसं ण य भासिज्जो पच्चयद्यादि हवदि एसो।।"[14]

हास्य, भय, क्रोध और लोभ से मन, वचन के द्वारा सभी काल में असत्य नहीं बोले क्योंकि वैसा करने वाला असत्यभासी होता है। इस प्रकार जैन दर्शन में भी ऐसा सत्य बोलने की बात को स्वीकार किया गया है। जो समस्त जीवों के लिए हितकारी हो एवं उससे किसी को हानि ने पहुंचती हों।

3. **अस्तेय व्रत -** अनुमति के बिना पर वस्तु के धन, सम्पत्ति आदि को ग्रहण न करना अस्तेय व्रत कहलाता है। जैन दर्शन में इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है- यथा

"गाभ्रणगरे रण्णे धूलं सचित्तं बहु सपडिवक्खं । तिवेहेण वज्दिव्वं आदिण्णगहणं च तष्णिच्चं ।''15

ग्राम में, नगर में, तथा अरण्य मं जो भी स्थूल सचित्त और बहुत तथा इससे प्रतिपक्ष सूक्ष्म अचित्त ओर अल्पवस्तु है, उनका बिना किसी के दिए मन, वचन, कायपूर्वक त्याग करना ही चाहिए। अस्तेय व्रत में भी पांच प्रकार की भावनाओं का वर्णन किया गया है जो क्रमानुसार इस प्रकार से वर्णित है

क. अनुवीचिग्रहयाचन आवश्यक अवग्रह- सम्यक विचार करते हुए उपयोग के लिए स्थान की याचना करना ही अनुवीचिअवग्रहयाचन है। इसमें उपयोग से अधिक संचय न करने की बात कही गयी हैं

ख. अभीक्ष्यअवग्रह याचन- राजा, कुटुम्बपति आदि ने अपनी सम्पत्ति एवं स्थान को यदि किसी विशेष कारण यदि दान कर दया हो और समयानतराल पर यदिउसे ग्रहण करने की इच्छा पर क्लेश रहित भाव से उसे वापस कर देना अभीक्ष्य-अवगृह याचन कहलाता है।16

ग. अवग्रह - धारण- मालिक से मांगते समय अवग्रह का परिणाम निश्चित कर कोई वस्तु ग्रहण करना अवग्रह धारण है। इसमें भी आवश्यकता से अधिक वस्तु न लेने की बात कही गयी है।

घ. साधर्मिक अवग्रह याचन- अपने से पहले दूसरे किसी समानधर्मी ने कोई स्थान ले लिया हो, उसी वस्तु को उपयोग में लाने का प्रसंग आ जाए तो उसे साधर्मिक से याचना करना साधर्मिक अवग्रह याचन कहलाता है। कहने का तात्पर्य है कि किसी की वस्तु को उपयोग करने से पूर्व वस्तु के मालिक से अवश्य पूछ लेना चाहिए।

ड. अनुज्ञापितपान भोजन- विधिपूर्वक अन्न एवं जल आदि केसेवन से पूर्व गुरू के समीप

प्रस्तुत कर भोग लगाने के पश्चात् ग्रहणकरन ही अनुज्ञापितपान भोजन कहलाता है।17 इसमें गुरूकी अनुज्ञप्ति पूर्णतया अनिवार्य है।

4. **ब्रह्मचर्य व्रत-** मन, वचन एवंकाय से किसी काल में स्त्री के प्रति वासनात्मक दृष्टिकोण न रखना ही ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है। यथा

"दट्ठूण इतियरूवं वांच्छाभावं णियत्तेद तासु। भेटुणसराण विंवाज्जियपरिणामों अहव तुरीयवदं।।[18]

स्त्रियों का रूप देखकर उनके प्रति वांछाभाव की निवृत्ति अथवा मैथुन संज्ञा रहित जो परिणाम हैं वह चौथा व्रत है। ब्रह्मचर्य की प्रगाढ़ता के विषय में भी पांच भावनाओं के पालन की बात कही गयी है यथा-

1. स्त्री कथा न करना
2. स्त्री अंगों का अवलोकन न करना
3. पूर्वानुभूत कामक्रीडा का स्मरण न करना 4. स्त्री आदि से सम्बद्ध स्थानों में न रखना 5. शकित्वर्धक रसायनों का सेवन न करना

साधना की ओर कदम बढ़ाने हेतु ब्रह्मचर्य एक महत्वपूर्ण पहलू है। बिना ब्रह्मचर्य पालन के कोई भी साधनात्मक प्रगति संभव नहीं। 'मूलाचार' में ब्रह्मचर्य के विषय में वर्णित है

"चिरउसिदवंभयारी पप्फोदेदूण सेसयं कम्मं। अणुपुव्वीय विसुद्धो सुद्धो सिद्धिगदि जादि।।"[19]

चिरकाल तक ब्रह्मचर्य का उपासक शेष कर्म को दूर करके कम से विशुद्ध होता हुआ शुद्ध होकर सिद्ध गति को प्राप्त होता है। इन पंक्तियों में यह सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की आत्मा को परमात्मा बनाने में महत्वपूर्ण सहायक है। यह विशुद्धता को प्रदान करने वाला सिद्ध का प्रस्फुटन का कन्द्र बिन्दु है।

4. **अपरिग्रह व्रत**–समस्त सांसारिक विषय वासनाओं में लिप्त इच्छा आकांक्षाओं का त्याग अपरिग्रह कहलाता है। अपरिग्रह के विषय में इस प्रकार से वर्ण प्राप्त होता है—"ग्राम,नगर,अरण्य,स्थूल सचित्त और बहुत तथा स्थूलादि से उलटे सूक्ष्म अचित्य स्तोक ऐसे अंतरंग-बहिरंग परिग्रह को मन, वचन, कर्म द्वारा छोड़ देवें। अपरिग्रह में भी पांच प्रकार की भावनाओं का वर्णन किया गया है, जो निम्नवत प्रस्तुत है
    1. श्रोतेन्द्रिय के विषय शब्द के प्रति रागद्वेष रहितता।
    2. चक्षुरिन्द्रिय के विषय रूप के अनासक्त भाव।
    3. घ्राणेन्द्रिय के विषय ग्रन्थ के प्रति अनसक्त भाव।
    4. रसनेनिद्रय के विषय रस के प्रति अनासक्त भाव।
    5. स्पर्शनेन्द्रिय के विषय के प्रति अनासक्त भाव

पन्चमहाव्रतों के परिणति रूप चरित्र से कोध, मान, माया, लोभादि, कषायों का निग्रह करने वाले सत्यादि गुणों से जीव में पापसाव का संवर संक्रिय होता है। यही जैन दशने के योग का प्रथम सोपान है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. तत्वार्थसूत्र - 6/1
2. स्थांनांगसूत्र
3. अभयदेववृत्ति-3/1/124, पृ०-72
4. कुन्दुकुन्द (नियमसार) - प.भ.अ.गा. / 40 पृ0-278
5. कुन्दुकुन्द (नियमसार) - प.भ.अ.गा. / 137 पर आचार्य पद्मकमल धारी देव द्वारा विचरित संस्कृत ठीका से उद्धृत श्लोक।
6. जुइन्दु देव (परमात्म प्रकाश) - अध्याय 1, दोहा 119
7. जुइन्दु देव (परमात्म प्रकाश) - अध्याय 2, दोहा 156-57
8. जुइन्दु देव (परमात्म प्रकाश)- अध्याय 1, दोहा 123
9. तत्वार्थ सूत्र - 1/1
10. तत्वार्थ सूत्र - 1/1
11. तत्वार्थ सूत्र-7/1
12. वट्टकेराचार्य-मलाचार-पंचा अधिकार गाथा-289
13. आचार्य कुन्द कुन्द - नियम सार-व्यवहार अधि. गा - 57
14. मूलाचार - प.गा. - 290
15. वट्टेकेराचार्य-मूलाधार-प.गा.-291
16. सुखलाल संघवी (हिन्दी विवेचन तत्वार्थ सूत्र) - पृ० 169
17. सुखलाल सिंघवी (हिन्दी विवेचन तत्वार्थ सूत्र) - प0 169
18. कुन्दकुन्द - नियम सार-व्यवहार चारि०-गा0 291
19. वट्टकेराचार्य(मूलाचार) प. गाथा - 102
20. वट्टकेराचार्य (मूलाचार) प. गाथा - 213

उपसंहार

पूर्व पृष्ठों पर वर्णित दर्शनों में योग की विषद् उपस्थिति का वर्णन किया गया है जो निर्विवाद एवं पूर्णतया सत्य है। हम चाहे किसी भी प्रकार के तर्क-तथ्य एवं प्रमाण तथा शब्द संकल्पना क्यों न अपना लें, किन्तु अंतिम परिणित इसी बात पर होगी कि- "सृष्टि के आरम्भ में एक ही योग का प्रवर्तन भगवान हिरण्यगर्भ ने किया था।" उसी पुरातन योग की प्राचीन परम्परा में प्रत्येक मत अपने अंग्रेजों से प्राप्त ज्ञान ज्योति को आने वाले मत को हस्तांतरित करता रहा है।

श्रोत दर्शन में प्रायः जीवात्मा एवं परमात्मा के संयोग को योग रूप में परिभाषित किया गया है। साधना की परमावस्था योग द्वारा जीव में भौतिक पदार्थो के प्रति अंहकार की पूर्णतया निवृत्त होने पर जीवात्मा इन प्रपन्चों से मुक्त होकर अपने चैतन्य स्परूप से अवगत होता है। परिणामतः अनादि बन्ध की कड़ियों से मुक्त हो परमतमा के गहन आनन्द की चिर चेतना में लीन हो उच्चस्तरीय सघन सुख की अनुभूति करता है। इस दर्शन में इसी स्थिति को योग की परिणति रूप में स्वीकार किया गया है।

जैन मत में जिस आत्मा में परिणाम माना गया है, वह परमात्मा के चेतनाश के प्रतिबिम्ब से युक्त चित्त है, जिसके लिए कहीं-कहीं जीव संज्ञा का प्रयोग दिखाई देता है। जैन दर्शन में अनेकान्तावाद को स्वीकार किया गया है। हालांकि बौद्ध दर्शन में योग' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में ध्यान एवं समाधि का वर्णन किया गया है। इन्होंने कहीं भी किसी जड़ पदार्थ अथवा चेतन अध्यात्म स्वरूप की सत्ता की यथार्थता को स्वीकार नहीं किया किन्तु समाधि अवस्था में जिन निष्फज एवं शून्यावस्था की स्थिति बौद्धों को अभिप्रेत है। सम्पूर्ण जगत की प्रपञ्चता से परे हट परदम सत्ता में स्थिर होने की बात को बौद्ध दर्शन में पूर्णतया स्वीकार्य किया गया है।

वेदान्त दर्शन में भी वेदान्त पूर्णतया रचा बसा है। वेदान्त दर्शन बह्म की एकात्मक सत्ता का वरण कर जगत को मिथ्या रूप में स्वीकार करता है। वेदान्त एक ऐसा दर्शन है, जो स्वप्न की यथार्थता को भी स्वीकार्य करता है। वेदान्त दर्शन में जीव जगत (मिथ्या) एवं ब्रहा को सत् रूप में स्वीकार किया है। मिथ्या वह तथ्य है जो सत्-असत् से परे हो और सत् वह है जो चिर-चेतन, अपरिणामी, अपरिवर्तनशील हो। अतः इन्होंने भी योग की परम परिणति बहा को पूर्णतया स्वीकार किया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शाब्दिक परिकल्पना भले ही भिन्न हो लेकिन अर्थ की मार्मिकता मात्र योग ही है। प्रत्येक दर्शन फिर चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक सभी में योग पूर्णतया रचा बसा है।

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. घेरण्ड संहिता स्वामी निरन्जनानन्द सरस्वती प्रकाशन- स्वामी सत्यसंगायन्द सरस्वती मानद सचिव, बिहार योग भारती, मुंगेर, बिहार प्रथम संस्करण-1997
2. हठप्रदीपिका - स्वात्माराम कृत प्रकाशन- कैवल्यधाम श्रीमन्माधव योग मंदिर समिति लोनावला (पुणे) महाराष्ट्र द्वितीय संस्करण - 2008
3. सन्तचरणदासकृत अष्टांग योग भाषानुवाद (ओम प्रकाश तिवारी) प्रकाशन- कैवल्यधाम लोनावला- 410403 प्रथम आवृति- 1983
4. स्वस्वृत्त विज्ञान प्रो० रामहर्ष सिंह प्रकाशक- चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान 38 यू० ए० जवाहर नगर, बंगलो रोड पो० बा० नं०- 2113, दिल्ली- 110007 सन 2009
5. चरक संहिता डा० ब्रहमानन्द त्रिपाठी प्रकाशक- चौखम्भा सुभारती प्रकाशन के- 37 / 117 गोपाल मंदिर लेन पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001 सन् 2002
6. सुश्रुत संहिता डा० श्रीभास्कर गोविन्द ज धाणेकर प्रकाशक- मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, जवाहर नगर दिल्ली 11000 सन् 1997
7. आयुर्वेदीय योग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान डा० राधावल्लभ सती प्रकाशक- चौखम्बा ओरियन्टालिया, पो0 बा० नं० 1032.गोकुल भवन के० 37 / 109, गोपाल मंदिर लेन, गोलघर, मेंदागिन वाराणसी- 221001 (उ०प्र०) वर्ष 2006
8. गीता-प्रबोधनी- स्वामी रामसुखदास प्रकाशन- गीताप्रेस, गोरखपुर-273005 सं0- 2066
9. यजुर्वेद (हिन्दीभाष्य)- स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रकाशन- आर्य प्रकाशन, अजमेरी गेट दिल्ली वर्ष 2007
10. ऋग्वेद (हिन्दीभाष्य) स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रकाशन आर्य प्रकाशन, अजमेरी गेट दिल्ली वर्ष 2007
11. अथर्ववेद- डा० क्षेमकरण त्रिवेदी प्रकाशन- आर्य प्रकाशन, अजमेरी गेट दिल्ली वर्ष 2006

12. आयुर्वेदिक पंचकर्म विज्ञान वैध हरिद्वार श्रीधर वैधनाथ आयुर्वेद, भवन लिमिटेड नैनी इलाहाबाद (सन् 2010)
13. पंचकर्म - डा० जे०एन० नौटियाल एच०आई०एच०टी० यूर्निवसिटी जॉलिग्रान्ट देहरादून (सन् 2010)
14. आयुर्वेद का अतिहास एवं परिचय - डा० विधाधर शुल्क रविदत्त त्रिपाठी चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान उ०यू०ए० बगलो रोड जवाहर नगर पो०वा० न० 2113 दिल्ली 110007 (सन् 2005)
15. पदार्थ विज्ञान - रविदत्त त्रिपाठी चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान उ०यू०ए० बंग्लो रोड जवाहर नगर पो०वा०न० 2113 दिल्ली 110007 (सन् 2005)